UNIVERSAL LIBRARY

OU_182850

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H801 Y31S   Accession No. P.G. H6724

Author वर्मा, भगवतीचरण.

Title साहित्य की मान्यताएँ. 1962.

This book should be returned on or before the date last marked below

साहित्य की मान्यताएँ

भगवतीचरण वर्मा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण :
मूल्य : ४ रुपये ५०

मुद्रक
सरयू प्रसाद पाण्डेय,
नागरी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

श्री भगवतीचरण वर्मा लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। कवि, कहानीकार, उपन्यासकार और 'स्केच' लेखक के रूप में इन्हें साहित्य-क्षेत्र में अग्रणी स्थान प्राप्त है। हिन्दी साहित्य के क्रमगत विकास का जो युग इन्होंने देखा है और जिसके निर्माण में इनका कुछ कम हाथ नहीं कहा जा सकता, कई दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण है। भगवती बाबू साहित्य के आलोचक नहीं रहे हैं किन्तु प्रमुख साहित्यिक होने के नाते उसके प्रति अपनी मान्यताओं को व्यक्त करने के अधिकारी हैं। यह मान्यताएँ समकालीन तथा भावी साहित्यकारों के लिए मननीय एवं उपयोगी भी हो सकती हैं। भगवतीचरण जी के स्वानुभूत विचार साहित्य-सेवियों और अन्य लेखकों के हृदय में भी सम्भवतः उठते होंगे। विचारों और मान्यताओं के परस्पर आदान-प्रदान के बिना स्वस्थ समाज या सुष्ठु-साहित्य का निर्माण अधूरा ही कहा जायगा। सम्भव है, भगवती बाबू की मान्यताओं से कतिपय साहित्यिकजनों की सहमति न हो। वैसी अवस्था में भी इस पुस्तक का महत्त्व किसी प्रकार न्यून नहीं होता, क्योंकि प्राचीन और अर्वाचीन तथा पौर्वात्य और पाश्चात्य साहित्यिक चिन्तन-धाराओं का संगतिपूर्ण अध्ययन सभी साहित्य-प्रेमियों के लिए लाभकारी होना चाहिए।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी को श्री भगवतीचरण वर्मा की पुस्तक 'साहित्य की मान्यताएँ' प्रकाशित करते प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। हम आशा करते हैं कि इस मौलिक साहित्यिक उद्बोधन से हिन्दी साहित्य जगत् आलोडित होगा और उससे हिन्दी में स्वतन्त्र चिन्तन की परम्परा को बल मिलेगा।

अक्टूबर १९६२

विद्या भास्कर
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

विषय-सूची

परिच्छेद		पृष्ठ
१—भावना, बुद्धि और कर्म	...	१
२—साहित्य में शब्द का स्थान	...	१३
३—साहित्य का स्रोत	...	२२
४—साहित्य का प्रभाव	...	३२
५—यथार्थवाद और आदर्शवाद	...	४४
६—भाव और भावना	...	५७
७—साहित्य का आदि रूप—कविता	...	६८
८—परम्परागत-कविता—छायावाद	...	७८
९—प्रगतिवाद—उपयोगिता अथवा प्रचार	...	८६
१०—प्रयोगवाद अथवा नयी कविता	...	९५
११—साहित्य का माध्यम गद्य	...	१०६
१२—कहानी का प्रमुख-रूप—उपन्यास	...	११७
१३—उपन्यास और लम्बी कहानी के शिल्प	...	१३०
१४—छोटी कहानी—कथा साहित्य का आदि-रूप	...	१३९
१५—रेखाचित्र—साहित्य की नवीन शाखा	...	१४५
१६—शब्दचित्र—पत्रकारिता का विकसित रूप	...	१४९
१७—निबन्ध—गद्य का अति प्रचलित रूप	...	१५५
१८—नाटक	...	१५९

प्रथम परिच्छेद

भावना, बुद्धि और कर्म

मेरा मन मुझसे कहता है कि मैं साहित्य के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं को व्यक्त करूँ।

अपनी कमजोरियों और अपनी असमर्थता का थोड़ा बहुत ज्ञान मुझे है। मैं न पण्डित हूँ और न दार्शनिक हूँ। शास्त्रीय ज्ञान की पुस्तकें पढ़ने में मेरा मन नहीं लगता, देर तक सोचने-विचारने में मुझे एक उलझन-सी होने लगती है। अध्ययन एवं चिन्तन और मनन से मैं बहुत दूर रहा हूँ। मैं तो केवल अपने अनुभवों पर ही स्थित हूँ। और इसी लिए इस समय जब मैं साहित्य के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं को शृंखलाबद्ध करके दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, मुझे कुछ अजीब-सा लग रहा है। लेकिन क्या करूँ, मैं अपने मन से विवश हूँ जिसकी प्रेरणा को मैं अस्वीकार नहीं कर सकता।

यह मेरा मन क्या है—इस मन की परिभाषा क्या है, इसका रूप क्या है? स्वभावतः यह प्रश्न मेरे सामने सब से पहले उठ खड़ा होता है। मेरी समस्त सत्ता इस मेरे मन में केन्द्रित है, मुझे जीवन के प्रत्येक कदम पर यह अनुभव होता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरा जीवन ही इस मेरे मन से संचालित होता है।

मैं जीवित हूँ—इसलिए कि मैं कर्म करता हूँ। साँस चलती है, रक्त में प्रवाह है, दिल में धड़कन है। एक गति है मुझमें। इस गति का स्रोत कहाँ है? यह मैं नही जानता; शायद जान भी नहीं सकता। लेकिन इतना सत्य है कि यह गति ही जीवन है और यही गति कर्म है। चलना, प्रवाहित होना, धड़कना—ये शब्द गति के द्योतक हैं। गति-हीनता मृत्यु की प्रतीक है।

'कर्म जीवन है, निष्क्रियता मृत्यु है।' मैं अपने से स्वयम कह उठता हूँ आप ही आप, बिना सोचे-विचारे। यह मेरा आधारमूल अनुभव है। जहाँ साँस का चलना बन्द हो जाय, दिल की धड़कन रुक जाय वहीं मृत्यु है, इससे मैं कैसे इनकार कर सकता हूँ।

चलना, दौड़ना, धड़कना—ये क्रियाएँ हैं, इन्हें कर्म कैसे कहा जा सकता है? कर्म के साथ तो कर्ता का प्रश्न अनिवार्य रूप से खड़ा हो

जाता है। और वह कर्ता मेरा मन है। मैं अपने को, अपने प्राण को और अपने मन को एक रूप देखता हूँ। कर्म में जो तुष्टि होती है अथवा आनन्द होता है उसे मेरा मन ग्रहण करता है। इसी मेरे मन में हमें कर्म करने की प्रेरणा है।

मन का कोई भौतिक रूप नहीं है, भौतिक विज्ञान मन का सम्बन्ध मस्तिष्क से बतलाता है। अनुभव करना मस्तिष्क का काम है, यह अनुभव शरीर के किसी भाग द्वारा हो; सुख और दुख इस अनुभव की प्रतिक्रियाएँ भर हैं। भौतिक विज्ञान में आंशिक सत्य है; अनुभव शरीर के किसी भाग द्वारा ही किया जा सकता है। हमारे शरीर का प्रत्येक भाग मस्तिष्क से स्नायुओं द्वारा सम्बद्ध है। लेकिन ये जो संकल्प-विकल्प हैं, यह जो सपनों का जाल है, यह जो अनेकों कल्पनाएँ हैं इन सबों की सृष्टि कहाँ से होती है? और इसी लिए मुझे मन की एक पृथक एवं स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। जो भौतिक प्रक्रिया है मन की प्रक्रिया उसके नियमों से नहीं बँधती। मन तो चेतन तत्त्व का भाग है। यही चेतन तत्त्व भौतिक प्रक्रियाओं को संचालित करता है।

मैं जो इस समय अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से विपरीत पाण्डित्य के क्षेत्र में आ रहा हूँ वह अपने अन्दर की किसी भावना से प्रेरित होकर। वह भावना शायद अपने को आरोपित करने की हो—मैं इस भावना का रूप ठीक-ठीक नहीं समझ पा रहा हूँ। लेकिन यह निश्चय है कि किसी भावना से प्रेरित होकर ही मैं अपने विश्वासों को, अपनी मान्यताओं को व्यक्त कर रहा हूँ।

भावना मन की द्योतक है, भावना में ही कर्म का स्रोत है।

'क्या बिना भावना के कर्म सम्भव है?' मैंने न जाने कितने बार यह प्रश्न अपने ही अन्दर पूछा है, और प्रत्येक बार मुझे यही उत्तर मिला—'नहीं।' हमारा समस्त जीवन हमारे कर्मों का एक समूह है; स्वयम जीवित रहने की इच्छा ही भावना है। हम जीवित इसलिए हैं कि हममें जीवित रहने की इच्छा है। जब आदमी से जीवित रहने की इच्छा जाती रहती है, वह आत्महत्या कर लेता है। प्रत्येक जीवित मनुष्य में जीवित रहने की इच्छा आधारमूल भावना है। पर इसके यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक जीवित रहने की इच्छा रखने वाला मनुष्य जीवित रह सकता है। जीवित रहना भौतिक प्रक्रिया है, प्रकृति के नियमों से बँधी हुई। जीवित रहने में जीवित रहने की इच्छा आधारमूल कारण अवश्य है पर एकमात्र कारण नहीं है।

प्रत्येक कर्म भावना जनित है। इच्छा, प्रेरणा, उन्माद—ये सब भावना के अन्तर्गत आते हैं। जहाँ भावना नहीं है वहाँ कर्म असम्भव है।

कर्म का स्रोत भावना में है—यह मेरी सर्वप्रथम मान्यता है; लेकिन कर्म का संचालन भी भावना द्वारा होता है—यह मैं नहीं मान सकता। कर्म का संचालन बुद्धि द्वारा होता है, और मुझे ऐसा लगता है कि मानव होने के नाते बुद्धि मेरे जीवन का उतना ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जितनी भावना है। भावना जहाँ अचेतन है वहाँ बुद्धि चेतन तत्त्व है। यह चेतना स्वयम में भावना का ही एक भाग कहला सकती है, लेकिन इसको भावना से पृथक मानने में ही सुविधा होगी बातों को ठीक तौर से समझने के लिए।

तो फिर मुझे इस निर्णय पर पहुँचना पड़ता है कि मेरा जो चेतन तत्त्व है वह अपने को दो भागों में विभक्त किये हुए है - भावना और बुद्धि।

भावना आधारमूल तत्त्व है जो समभाव से प्रत्येक जीवित प्राणी में मिलेगी। बुद्धि हमारे जीवन के विकास की माप निर्धारित करती है और इसलिए उसका प्रत्येक प्राणी में समान-भाव से मिलना असम्भव है। बुद्धि चेतना की पूर्णता अथवा अपूर्णता निर्धारित करती है। इस बुद्धि तत्त्व को हमने कई विभागों में बाँट कर उन्हें अलग-अलग नाम दे दिये हैं लेकिन वे सब बुद्धि तत्त्व के विकसित, अर्ध विकसित अथवा अविकसित रूप भर हैं। गुण, स्वभाव—ये सब बुद्धि तत्त्व की व्याख्याएँ हैं। चींटी दाना बटोरती है, कुत्ता अजनबी आदमी को देख कर भूँकता है, मकड़ी जाला बुनकर उसमें मक्खियों को फँसाती है। इस सब में इनकी भावनाएँ तो आधार रूप में कर्म की प्रेरणा देती है, लेकिन इनके कर्मों को रूप देती है इनकी अविकसित बुद्धि।

बुद्धि स्वयम सक्रिय तत्त्व नहीं है, वह भावना का पूरक तत्त्व है। कर्म करना भावना से प्रेरित है। उस कर्म को रूप देना बुद्धि का काम है। भावना पर बुद्धि का अनुशासन ही मानव-विकास का नियम है।

बुद्धि स्वयम में निष्क्रिय है, पर वह कर्म से सम्बद्ध होने का कारण सक्रिय कहलाने लगती है। बुद्धि को भावना वहन करती है— भावना से पृथक बुद्धि का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

भावना अस्पष्ट, अरूप और अवर्ण्य संज्ञा है जिसे रूप देना, जिसको स्पष्ट करना जिसे परिभाषा की सीमा में बांधना बुद्धि का काम है। और इसी लिए मुझे तो ऐसा लगता है कि बुद्धि मनुष्य के चेतन तत्त्व

और उसके भौतिक तत्त्व में सामंजस्य उत्पन्न करती है, और इसी सामंजस्य के फल स्वरूप कर्म की सृष्टि होती है।

लेकिन यहाँ मैं कुछ अजीब-सी उलझन में पड़ जाता हूँ। मेरे सामने अनायास ही यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या बुद्धि का भावना से सर्वथा पृथक कोई अस्तित्व है। जो कुछ पढ़ा है या सुना है, इस प्रश्न का उत्तर पाने में मुझे उससे तो सहायता नहीं मिलती; मेरे निजी अनुभव उसके विपरीत हैं। कोई तर्क, कोई विचार मनुष्य की भावना से मुक्त नहीं है। कभी-कभी मुझे लगने लगता है कि बुद्धि स्वयम में स्वतन्त्र सत्ता न होकर कर्म का एक क्रम मात्र है। पर यह अनास्था अधिक समय तक नहीं टिक पाती है। अगर बुद्धि क्रम है तो किस चीज़ का क्रम है? मनुष्य के सक्रिय तत्त्व का ही तो वह क्रम है—उस सक्रिय तत्त्व को देख पाना, समझ पाना—यह मेरे लिए असम्भव है। हम उसे आत्मा कह दें, हम उसे प्राण कह दें—कोई अन्तर नहीं पड़ता।

क्रम ही सही, बुद्धि की एक महत्ता तो है जिससे इनकार नहीं किया जा सकता। वैसे बुद्धि का विभाजन भी कई वर्गों में किया जा सकता है, बुद्धि के कर्म-क्षेत्र के अनुसार, लेकिन दो स्पष्ट-विभाजन जो अभी तक हो पाए हैं, वे हैं ज्ञान और विवेक। कौतूहल की तृप्ति के परिणाम-स्वरूप हमें जो कुछ अनुभव प्राप्त होते हैं, उन्हें शृंखलाबद्ध करना ज्ञान का क्षेत्र है। यही ज्ञान हमारे कर्मों को निर्धारित करता है। लेकिन ज्ञान का आदान-प्रदान वस्तु जगत से सम्बद्ध है क्योंकि हमारे जितने भी अनुभव हैं वह सब के सब वस्तु जगत से सम्बद्ध होते हैं। बुद्धि का दूसरा क्षेत्र है स्वयम भावना पर अनुशासन। यहाँ हमने बुद्धि को विवेक का नाम दे दिया है। विवेक की नींव अनुभवों पर नहीं है, अनुभूतियों पर है।

ज्ञान और विवेक का विभेद इस स्थान पर इतना आवश्यक अथवा महत्त्वपूर्ण नहीं है। मैं तो कह रहा था कि हमारे चेतन तत्त्व के दो प्रमुख भाग हैं—भावना और बुद्धि और दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। भावना कर्म का स्रोत है, बुद्धि कर्म का रूप है, कर्म की सफलता और सार्थकता है।

हमारे प्राचीन दार्शनिकों एवं कवियों ने स्थान-स्थान पर 'मनसा-वाचा कर्मणा' वाक्य का प्रयोग किया है। वैसे इस वाक्य का प्रयोग सच्चाई और ईमानदारी के लिए ही हुआ है, लेकिन इस वाक्य में उल्लिखित मन, वचन और कर्म में सम्पूर्ण अस्तित्व को जो बाँधा गया है, इससे यह स्पष्ट है कि उन कवियों और दार्शनिकों ने भी समस्त जीवन

को मन-वचन ओर कर्म में सीमित कर दिया है। मन, वचन और कर्म के सम्पूर्ण सामंजस्य को ही जीवन की पूर्णता और सफलता के रूप में स्वीकार किया गया है।

'मन' शब्द 'भावना' का द्योतक है—इसे स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती, लेकिन 'वचन' शब्द 'बुद्धि' का द्योतक है इसका स्पष्टीकरण करना मैं आवश्यक समझता हूँ।

भावना को स्पष्ट करना, भावना को रूप देना, उस भावना को परिभाषा की सीमा में बाँधना बुद्धि का काम है—मेरा कुछ ऐसा मत है। यह स्पष्टता, रूप और सीमा का क्रम भौतिक प्रक्रिया है जिसके लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता है। यह भौतिक साधन है शब्द जो विकसित मानव को वचन के रूप में प्राप्त हुआ है। स्वरों का विश्लेषण करके तथा उन स्वरों को नियमों में बाँधकर शब्दों की रचना हुई है, और यह सब मनुष्य ने अपनी बुद्धि के सहारे ही किया है। इसके बाद मनुष्य ने बुद्धि को शब्द का आधार देकर विकास के क्रम में आगे बढ़ने की शक्ति और क्षमता प्राप्त की।

मुझे तो ऐसा लगता है कि मनुष्य का चरम विकास बौद्धिक विकास ही है। शब्द ही बुद्धि को वहन करता है। जहाँ तक भावना का प्रश्न है, वह स्थायी है; विकास का प्रश्न ही बुद्धि के साथ जुड़ा हुआ है। शब्द बुद्धि को वहन करता है और इसी लिए कुछ ऋषियों ने शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दे दी है।

आज का युग वैज्ञानिक युग है और इस वैज्ञानिक युग में शब्दों की महत्ता निरन्तर बढ़ती जा रही है। पर इस ज्ञान-विज्ञान की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा शासित शब्द में भावना का नियन्त्रण करने वाले विवेक का संतुलन नहीं है। इसके परिणामस्वरूप बुद्धि का ज्ञान-पक्ष विवेक-पक्ष से बहुत अधिक सबल हो गया है।

'मनसा-वाचा-कर्मणा' वाक्य में जो 'वचन' शब्द का प्रयोग हुआ है वह बुद्धि के विवेक पक्ष के लिए हुआ है, ज्ञान पक्ष के लिए नहीं किया गया है। बुद्धि का विवेक पक्ष ही भावना से पूर्णतः सम्बद्ध है, ज्ञान पक्ष नहीं है। ज्ञान तो कौतूहल की तुष्टि के रूप में भौतिक जगत की भौतिक प्रक्रियाओं का पर्यायी है और इसलिए वह भावना के केवल एक अंग का पूरक है। समस्त भावना पक्ष को शासित करने वाला विवेक है।

'वचन' शब्द में एक प्रकार की सात्विकता है जो विवेक से प्रेरित है। इस विवेक में मानव के चेतन तत्त्व की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है जो

बुद्धि द्वारा अनुशासित और परिमार्जित है। इस विवेक में सत-असत का बोध है। विशुद्ध भावना न सत है न असत है, उस भावना को सत-असत बनता है कर्म जो बुद्धि द्वारा परिचालित है। ज्ञान-पक्ष द्वारा उपार्जित मानव की शक्तियाँ विवेकहीन भावना द्वारा प्रेरित कर्म में भयानक रूप से असत और अकल्याणकारिणी प्रमाणित हो सकती हैं, मानव-समाज को इसका यथेष्ट अनुभव है।

बुद्धि का विवेक तत्त्व जहाँ भावना पर अनुशासन करता है वहाँ उसमें इतनी क्षमता भी है कि वह भावना में अपने को पूर्ण रूप से लय कर ले। वह विवेक जो भावना से पृथक रह कर मनुष्य में स्थित होता है, निर्बल है क्योंकि वाह्य परिस्थितियों से विवश होकर भावना विवेक का अनुशासन तोड़ सकती है। और इसी लिए साहित्य में भावना और विवेक के एकीकरण को परिलक्षित करके उसकी सर्वप्रथम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता मानी गयी है--'भावना का उदात्तीकरण'। उदात्त भावना स्वयम में समर्थ और सक्षम है—वहाँ बुद्धि का स्थान गौण होता है क्योंकि बुद्धि अपने को विवेक के रूप में भावना से एक रूप हो जाती है। उदात्त भावना बुद्धि के निम्न-स्तर वाले तर्क-वितर्क का आश्रय नहीं लेती; उदात्त भावना द्वारा प्रेरित कर्म में सात्विकता होती है, सार्थकता होती है।

इस बात पर मेरा दृढ़-निश्चय है कि कर्म अथवा जीवन का मूल स्रोत भावना में है। लेकिन भावना पर बुद्धि का अनुशासन है और इसी लिए विकसित मानव में, उसके बौद्धिक प्राणी होने के नाते, उसका प्रत्येक कर्म बुद्धि द्वारा निर्धारित होता है। बुद्धि के दो पक्ष हैं, विवेक और ज्ञान। मानव का समस्त अस्तित्व इस विवेक और ज्ञान के विकास के लिए है। ज्ञान मानव की बहिर परिस्थितियों से सम्बद्ध है, उसका सम्बन्ध प्रकृति से है। ज्ञान मानव की शक्ति बनकर मानव को प्रकृति का रहस्य खोलने को तथा प्रकृति पर शासन करने को प्रेरित करता है, और इसलिए इसी ज्ञान का विकास मानव का चरम विकास माना जाता है।

पर विकसित वह हो सकता है जो स्वयम स्थित है। मनुष्य की स्थापना उसकी भावना द्वारा प्रेरित उसके कर्मों पर है,; दूसरे शब्दों में यह स्थापना मनुष्य की भावना पर ही केन्द्रित हो जाती है। भावना का अनुशासन विवेक करता है, ज्ञान नहीं, ज्ञान तो स्वयम भावना द्वारा अनुशासित है। और इसी लिए विवेक-हीन मानव की भावना अनादिकाल

से अपने ज्ञान का प्रयोग युद्ध और विनाश में करके मानव को नष्ट करती आयी है।

यह समस्त ज्ञान जो दर्शन में, इतिहास में, विज्ञान में भरा पड़ा है, यह भावना से परे है—जब मैं यह कहता हूँ तब लोग आश्चर्य कर सकते हैं। लेकिन जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह सत्य है। स्वयम धर्म दर्शन का एक भाग होने के कारण भावना से जब साम्य स्थापित करता है तब विवेक का सहारा लेता है, जहाँ वह विवेक की उपेक्षा कर के भावना से साम्य नहीं स्थापित कर पाता वहीं वह विनाश का प्रेरक तत्त्व बन जाता है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह इतिहास से प्रमाणित है। अनादिकाल से मानव दर्शन, धर्म, समाजशास्त्र और विज्ञान के पीछे दीवना रहा है लेकिन मानव अपने कर्मों से विनाश के तत्वों को पृथक नहीं कर सका। उसका समस्त ज्ञान उसके अनाचार, अत्याचार, शोषण और उत्पीड़न में सहायक ही बने हैं। और इसी लिए जिसे हम कला कहते हैं उसका क्षेत्र बौद्धिक न होकर भावनात्मक माना गया है। कला की जड़ें मन में हैं वाह्य परिस्थितियों पर कला स्थित नहीं है।

कर्म वाह्य-परिस्थितियों से सम्बद्ध है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता, पर हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कर्म का स्रोत मन में है। कर्म को केवल वाह्य परिस्थितियों से सम्बद्ध और भावना से पृथक समझ लेना आज के भौतिकवाद में एक परिपाटी-सी हो गयी है, और इसी लिए कला को ज्ञान-विज्ञान की अपेक्षा निम्न-स्थान दिया जा रहा है। यही नहीं, कला को केवल मनोरंजन और मन-बहलाव की संज्ञा देकर बुद्धिवादी विचारकों ने उसे अनुपयोगी सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है।

कला में मनोरंजन प्रधान है, इसे स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं और यहाँ एक प्रश्न मेरे अन्दर उठता है—मैं मनोरंजन को निकृष्ट एवं अनपेक्षित क्यों समझ लूँ? मैं तो इतना जानता हूँ कि मनुष्य का हरेक कर्म, यही नहीं, उसका समस्त अस्तित्व मनोरंजन के नियमों से शासित है। यह जो समस्त ज्ञान और विज्ञान है इसका स्रोत भी तो मनुष्य के अन्दर वाली कौतूहल की भावना में है। मनोरंजन इस कौतूहल का प्रमुख अवयव है। कोई भी व्यक्ति अपने मन को दुखी करने वाला कोई भी कर्म मुक्तभाव से नहीं करता। ज्ञान और विज्ञान में निरन्तर विकास इसी लिए सम्भव हुआ कि इनके उपासकों का एकमात्र मनोरंजन इसी ज्ञान-विज्ञान में है। मनुष्य की प्राण-शक्ति जिसे हम अंग्रेजी में लाइफ़ फोर्स

कहते हैं, यह अपने को आनन्द की खोज में ही प्रस्फुटित करती है। और इसी प्राण शक्ति का रूप ही तो भावना है। ऐसी हालत में मनोरंजन को हीन समझने की जो प्रथा आज-कल चल पड़ी है वह मानव में इस वैज्ञानिक युग की प्रतिक्रियात्मक विकृति भर है।

बहुत सोचने-विचारने के बाद मैं मनोरंजन को हीन समझनेवाली प्रवृत्ति को इतना अधिक अस्वाभाविक भी नहीं समझ पा रहा हूँ। मनोरंजन की बदनामी का एक बहुत बड़ा कारण है मनोरंजन के साथ वाली विकृति। मनुष्य में गुण के साथ विकार भी समानभाव से मौजूद हैं। लेकिन मानव का कर्म और जीवन गुणों से प्रेरित और शासित है। विकार मानव में मौजूद अवश्य है, लेकिन उसकी उपस्थिति निष्क्रिय-रूप में स्वीकार की गयी है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और जब-जब मनुष्य की विकृतियाँ कर्म के रूप में अपने को आरोपित करने का प्रयत्न करती हैं तब-तब इन्हें समाज का अनुशासन दबा देता है। लेकिन कल्पना में इन विकृतियों के आरोपण में तो समाज की बाधा का भय नहीं रहता। मनोरंजन के क्षेत्र में इन विकृतियों की मानसिक उत्तेजना छा जाने का अच्छा-खासा मौक़ा रहता है। सामाजिक प्राणी के उत्तरदायित्व से युक्त साधारण मनुष्य कर्म में अपनी विकृतियों को दबाए रहता है, पर यह विकृतयाँ मनुष्य की अर्ध-चेतन अवस्था में उसके मन पर अधिकार जमा लेती हैं।

कला का मनोरंजन मनुष्य के अर्धचेतन अवस्था से सम्बद्ध है जब मनुष्य वास्तविक परिस्थितियों से अलग हटकर अपने को कल्पना में खो देना चाहता है। जहाँ तक मेरा मत है, मैं मनोरंजन को 'नशा' की कोटि में रखने पर कोई आपति नहीं करूँगा। पर साधारण नशा में सबसे बड़ा अवगुण यह है कि उसमें मनुष्य अपने समस्त सामाजिक और बौद्धिक प्रतिबन्धों की उपेक्षा कर के अपने असली रूप में आ जाता है जहाँ उसकी विकृतियाँ उस पर पूर्ण रूप से छा जाती हैं। नशा पर बहिर प्रभाव नहीं पड़ता, उसमें हम बाहर से कुछ ग्रहण नहीं करते अपने अन्दर से ही ग्रहण करते हैं। मनोरंजन में मनुष्य अचेतन अवस्था को प्राप्त नहीं होता, वहाँ हम जो कुछ ग्रहण करते हैं वह सब बाहर से ग्रहण करते हैं और वह हमें अर्ध-चेतन अवस्था में ही ला सकता है, हमें अचेत नहीं कर सकता।

कला शब्द में सुरुचि और परिमार्जन का आभास है, विकृति में जो कुरूपता है कला में उसका कोई स्थान नहीं। सुरुचि और परिमार्जन कला

के सामंजस्य वाले तत्त्व से प्रेरित है। सामंजस्य मनुष्य के गुणों में ही सम्भव है, विकृतियों में असामंजस्य और अराजकता प्रेरक तत्त्व हैं। विकृतियों से युक्त जो वासनाएँ हैं वह सामाजिक नियमों और प्रतिबन्धों के विरोधी तत्त्व होने के कारण केवल क्षणिक मनोरंजन कर सकती है, लेकिन उस क्षणिक मनोरंजन की विषाद और परितापयुक्त प्रतिक्रिया उसके साथ लगी रहेगी यह निश्चय है। और इसी लिए इन विकृतियों से युक्त वासनाओं वाली कला समाज में समादृत नहीं हो सकती। ईमानदारी की बात तो यह है कि इस प्रकार की समाज विरोधी और विकृत वासनाओं को कला में स्थान मिलना ही नहीं चाहिये, और अनादिकाल से कला के नाम पर विकृतियों के प्रदर्शन पर कड़े सामाजिक प्रतिबन्ध लगाए गए हैं।

कला का आदिरूप सामाजिक मनोरंजन में ही दिखता है और सामाजिक मनोरंजन होने के कारण कला को व्यक्तिगत वासना से मुक्त होना चाहिये। अनादिकाल से कला को मानवजीवन में एक उच्च तथा महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है क्योंकि कला सामाजिक आदान-प्रदान से युक्त होती है और इसलिए सामाजिक हित एवं भ्रातृत्व कला का ध्येय रहा है। और इसी लिए कला में सात्विकता की भावना को महत्त्व मिला है क्योंकि जो सात्त्विक नहीं है वह असामाजिकता को प्रेरणा देती है। सामाजिक दृष्टि से अश्लीलता को सात्विकता का विरोधी तत्त्व माना गया है क्योंकि अश्लीलता मानव की उन विकृतियों पर आधारित हैं जो नित्यप्रति के जीवन में नितान्त स्वाभाविक रूप से अपने को आरोपित करने का प्रयत्न करती है। कला को अश्लीलता से बचाने के लिए न जाने कितने प्रतिबन्धों की रचना हुई है, फिर भी कला अश्लीलता से नहीं बच सकी।

और यहाँ पर एक बात पर मुझे और सोचना पड़ेगा। कला का स्रोत भावना में अवश्य है, लेकिन कला अपना रूप ग्रहण करती बुद्धि की सहायता से। भावना सर्वव्यापी है, और कला का प्रभाव सर्वव्यापी है; लेकिन कला की सृष्टि तो समान भाव से हर जगह नहीं हो सकती। सुरुचि और परिमार्जन का भाव बौद्धिक अधिक है, भावनात्मक कम है। और इसलिए कला के मूल्यांकन में उसके बौद्धिक तत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

कला के बौद्धिक तत्त्व की जब बात चली है तब प्रश्न उठ खड़ा होता है—बुद्धि का कौन-सा भाग—ज्ञान अथवा विवेक—कला में अधिक

महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर विवेक को ही महत्त्व दिया जा सकता है, लेकिन ज्ञान-तत्त्व की उपेक्षा कैसे की जा सकती है? बुद्धि के पूर्णाङ्गी योग से ही कला निखर सकती है। चेतन प्राणी होने के नाते मानव में भावना और बुद्धि दोनों का ही संतुलन और सामंजस्य होना आवश्यक है। यद्यपि कला का उद्देश्य भावनात्मक आदान-प्रदान है, पर कला अपना रूप ग्रहण करती है बुद्धि की ही सहायता से। और यहीं विवेक-तत्त्व के साथ-साथ ज्ञान तत्त्व की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। विवेक कला के आत्मा-तत्त्व को परिष्कृत करता है, ज्ञान कला के शरीर तत्त्व को विकसित करता है।

कला का परियायी अंग्रेजी का शब्द आर्ट है और आर्ट शब्द में कृत्रिम-रूप से सँवारने की भावना है। मेरा तो कुछ ऐसा मत है कि कला शब्द में कृत्रिमता का बोध है और कला हर स्थान पर कृत्रिमता के नियमों से बँधी हुई है। जो भौतिक तत्त्व है अर्थात कला का शरीर—उसके साथ स्पष्ट नियमों की परिपाटी है। यह कृत्रिमता के नियम ही मानव की चेतना के द्योतक हैं क्योंकि इन नियमों में परित्याग करने का तथा चयन करने का विधान है। जो कुरूप है अथवा विकृत है उसका परित्याग आवश्यक है। यही नहीं, कला का व्याकरण अथवा शरीर तत्त्व तो कृत्रिमता के नियमों से सर्वथा बँधा है। यह कृत्रिमता का नियम ज्ञान वाले बौद्धिक तत्त्व से शासित है।

भावना और बुद्धि का संतुलन कला की प्रथम आवश्यकता है—एक बार फिर मुझे इस बात का स्मरण हो आता है, बिना इस के कला का प्रभाव नष्ट हो जाता है। जहाँ शास्त्र और विज्ञान केवल ज्ञान अथवा बुद्धि के वाहक होने के कारण एकांगी होते हैं वहाँ कला भावना और विवेक की सहायता से सर्वाङ्गी बन सकती है।

मनुष्य में भावना को प्रभावित करने का सब से अधिक शक्तिशाली माध्यम कला को माना गया है, इसलिए हमारे सामाजिक और धार्मिक नेता कला के सम्बन्ध में बहुत अधिक सतर्क रहते हैं। यह सतर्कता बाद में अनुदारता ही नहीं वरन अन्याय की सीमा तक पहुँच गयी—हमारे मध्ययुगीन समाज के इतिहास में यह स्पष्ट है। कला वास्तव में सुन्दरता की उपासना है और सामाजिक नियमों एवं प्रतिबन्धों में कहीं न कहीं कुछ कुरूपता तो रहती ही है। और इसलिए समय-समय पर कला इन सामाजिक प्रतिबन्धों और नियमों को तोड़ने की प्रेरणा देती है। मानव-समाज को कला की इस प्रवृत्ति का लम्बा अनुभव है। कला का यह

विद्रोहात्मक तत्त्व कुछ इने-गिने स्थलों पर ही विवेकयुक्त सात्विकता की भावना से प्रेरित होता है, अधिकांश में यह विद्रोहात्मक तत्त्व अपने को विकृतियों में परिणत कर लेता है। उपयोगितावाला विवेकतत्त्व जिस समय कला में शिथिल पड़ा, उसी समय कला में असामाजिक बनने की प्रवृत्ति आ जाती है। और इसी लिए मध्ययुग में जब सामाजिक नियम और बन्धन बहुत कस गए थे तथा किसी भी प्रकार की विद्रोहात्मक स्वच्छन्दता या स्वतन्त्रता वर्जित मानी जाने लगी थी, कलाकारों को समाज से च्युत-सा कर दिया गया था। संगीतज्ञ, नर्तक, अभिनेता, चित्रकार, मूर्तिकार—ये जितने कलाकार थे उनका एक पृथक निजी सामाजिक वर्ग बनाकर उच्च और सम्भ्रान्त समाज से उन्हें निकाल बाहर किया गया था।

पर वह रूढ़िग्रस्त मध्ययुगीन समाज साहित्यकार का निरादर नहीं कर सका, और साहित्यकारों का कोई अलग वर्ग अथवा समाज नहीं बन सका। यद्यपि चारणों के रूप में कवियों के एक भाग को समाज से निष्कासित करने के प्रयत्न में उस मध्ययुगीन समाज को सफलता अवश्य प्राप्त हो गयी, पर उस सफलता का श्रेय समाज के नेताओं को उतना नहीं है, जितनी स्वयम उन कवियों की अपने को अर्थ और धन के लिए गिरा लेने की कमजोरी रही है। स्वतन्त्र एवं चेता साहित्यकार तो समाज का नेता रहा है बौद्धिक प्राणी होने के नाते। साहित्य ही एक ऐसी कला है जिसमें मनोरंजन के साथ शब्दों में निहित ज्ञान और विवेक का सम्मिश्रण रहा है और उस कला में सात्विकता एवं बौद्धिकता को प्रमुखता मिली है।

अन्य कलाओं की अपेक्षा साहित्य में स्वांतः सुखाय वाले तत्त्व की प्रचुरता रही है और साहित्यकारों में यह प्रवृत्ति रही है कि वह अपने व्यक्तित्व में दुनिया के व्यक्तित्व को लय कर दें, न कि दुनिया की रुचि के अनुसार वह अपने व्यक्तित्व को रूप दें।

भावना और बुद्धि के योग से मानव के हरेक कर्म की सृष्टि होती है और इसलिए मैं साहित्य के सृजन को एक प्रकार का कर्म ही मानता हूँ। लेकिन कला और साहित्य स्वयम में कर्म होते हुए दूसरों के कर्मों को प्रभावित कर सकते हैं और इसी लिए कला और विशेष रूप से साहित्य की सफलता एवं सार्थकता लोकहित तथा समाज-कल्याण पर आश्रित है। वह कला जो जनहित और लोक-कल्याण में सहायक नहीं होगी वह निरर्थक समझी जाती है। वैसे दूसरों का मनोरंजन करना तथा सुख पहुँचाना स्वयम में जनहित और लोक-कल्याण समझा जा सकता है, पर

बौद्धिक होने के नाते मानव में जनहित और लोक-कल्याण का इससे अधिक व्यापक अर्थ लगाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कोई भी सुख या मनोरंजन जो निम्न कोटि की वासना पर आधारित है, स्थायी नहीं हो सकता, साथ ही उसकी भयानक दुःखद प्रतिक्रियाएँ भी हो सकती हैं। इसलिए साहित्य और कला को वासना के ऊपर की चीज़ होना पड़ेगा।

भावना को वासना से ऊपर उठाता है बुद्धि का विवेक तत्त्व और इसलिए कला और साहित्य में ही नहीं, समस्त मानव समाज में यह बुद्धि का विवेक तत्त्व प्रमुख माना जाता है। इसी विवेक तत्त्व पर मानव समाज की स्थापना है। भावना कर्म को जन्म अवश्य देती है, लेकिन बुद्धि उस कर्म को रूप देती है। बुद्धि के अन्तर्गत जो ज्ञानतत्त्व है वह भावना से अनुशासित होता है, भावना पर अनुशासन करता है बुद्धि का विवेक तत्त्व। यही अनुशासन समाज का निर्माण करता है तथा विकास में सहायक होता है।

विवेक का क्षेत्र वस्तु जगत नहीं है, उसका क्षेत्र भावना-जगत है। इसलिए हम यह कहते हैं कि कला का आधारमूल तत्त्व भावना है और प्रमुख तत्व बुद्धि है; पर महान कला वह है जहाँ भावना और बुद्धि अपने सर्वांगी रूप में एकाकार हो जाय—उनमें कोई भेद न दिखे।

दूसरा परिच्छेद

साहित्य में शब्द का स्थान

साहित्य कला है और कला भावना का आदान-प्रदान है।

स्वाभाविक रूप से मेरे सामने प्रश्न उठ खड़ा होता है—"क्या भावना को वहन करने वाला माध्यम शब्द है?"

यह सत्य है कि हम अपनी प्रत्येक भावना को शब्दों द्वारा व्यक्त कर सकते हैं और करते भी हैं। शब्द विकसित मानव की वह एकमात्र निधि है जिसके कारण वह पशु-पक्षियों से अलग बौद्धिक प्राणी बन सका है। साहित्य में हरेक भावना शब्दों द्वारा ही व्यक्त की जाती है और उस भावना को दूसरों पर आरोपित किया जाता है।

फिर भी शब्द को भावना के वहन करने का माध्यम मानने में मुझे संकोच होता है। मेरा ऐसा अनुभव है कि शब्द केवल भावना को स्पष्ट कर सकता है, वहन नहीं करता। मेरे हर्ष-विषाद से शब्द दूसरों को भासित भले ही कर दे, पर मेरे हर्ष अथवा विषाद को दूसरों में पहुँचा कर उनमें दूसरों को तन्मय कर दें, यह सामर्थ्य मैं शब्द में नहीं देख पाता हूँ। और इसी लिए मैं शब्द को भावना को वहन करने वाला माध्यम नहीं मान पाता।

ये जितनी कलाएँ हैं इनका क्षेत्र भावना का स्पष्टीकरण नहीं है क्यों कि स्पष्टीकरण वैज्ञानिक प्रक्रिया है, इनका उद्देश्य संवेदना की सृष्टि है। अपने हर्ष में मैं दूसरे को विभोर कर दूँ। अपनी करुणा से मैं दूसरे में करुणा उत्पन्न कर दूँ, अपने क्रोध से मैं दूसरे को उकसा दूँ और अपनी दया की भावना से मैं दूसरे को द्रवित कर दूँ—यह क्रम संवेदना का है। कला का एकमात्र क्षेत्र संवेदना की सृष्टि है, उसका लक्ष्य है कलाकार की भावना में दूसरे को लय कर देना। भावना का विशुद्ध स्पष्टीकरण या विश्लेषण कला का क्षेत्र नहीं है, वह क्षेत्र ज्ञान-विज्ञान है।

कलाओं में एकमात्र साहित्य ऐसा है जिसका सम्बन्ध शब्द से है; संगीत, नृत्य, मूर्ति, चित्र आदि अन्य कलाएँ शब्द से सम्बद्ध नहीं हैं। फिर भी यह सब कलाएँ संवेदना की सृष्टि करती हैं, हम यह जानते हैं। तब यह निश्चय हो जाता है कि अगर शब्द भावना को वहन करने का

माध्यम मान भी लिया जाय, तो वह एकमात्र माध्यम नहीं माना जा सकता है। लेकिन मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि शब्द भावना को वहन करने का माध्यम है ही नहीं, शब्द केवल सहायक अथवा पोषक तत्त्व है। अब मेरे सामने यह प्रश्न खड़ा हो जाता है "भावना को वहन करने का माध्यम क्या है ?"

भावना को वहन करती है 'गति' मेरा तो यह मत है। भौंह चढ़ी, क्रोध की भावना प्रकट हो गयी, होठों पर हँसी नाची, हर्ष का रूप साकार हो गया। स्वरों के उतार-चढ़ाव में भावना निहित है, चरणों की तीव्र अथवा मन्द गति में भावना अपने को साकार करती है। रंगों के उतार-चढ़ाव में भावना व्यक्त होती जाती है।

इस गति में भावना का व्यक्तीकरण है, लेकिन भावना का स्पष्टीकरण तो नहीं है। ऐसी हालत में इस गति से संवेदना की सृष्टि कैसे हो सकती है ? यह प्रश्न उठाया जा सकता है। संवेदना की सृष्टि में गति सशक्त और सक्षम कैसे है ? इस प्रश्न का उत्तर पाना आवश्यक हो जाता है।

शब्द बुद्धि की चीज़ है, मन की नहीं है, अगर हम यह समझ लें तो हमारे लिए इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का सही-सही उत्तर पाना आसान हो जायगा। शब्द में भावना का व्यक्तीकरण नहीं है, केवल स्पष्टीकरण है, जब कि गति में भावना का व्यक्तीकरण है। व्यक्तीकरण को मन ग्रहण करता है, स्पष्टीकरण को बुद्धि ग्रहण करती है।

हम एक व्यक्ति को दुःख में पीड़ित देखते हैं। उस पीड़ा से वह रो रहा है। उस समय उसके शरीर की जो प्रक्रिया है, आँखों से आँसू आना, स्वर में हिचकियाँ बँध जाना, पीड़ा से मुख पर एक प्रकार की विकृति का आ जाना, यह सब प्रक्रियाएँ हमारे मन को छू लेती हैं और उस पीड़ित व्यक्ति की भावना सीधे हमारे मन में पहुँच जाती है। दुःख की भावना बिना शब्दों के हमारे मन में पहुँच गयी। पर अगर दूसरा आदमी कहे कि अमुक व्यक्ति बड़ा दुखी था और रो रहा था, तो उस दुखी आदमी की क्या भावना है वह हमें बुद्धि द्वारा स्पष्ट हो जायगी, पर मन उस रोने वाले की भावना को ग्रहण नहीं करेगा। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि बुद्धि शब्द का प्रयोग मैं उसके ज्ञानपक्ष के लिए ही कर रहा हूँ।

शब्द की व्युत्पत्ति बुद्धि से हुई है इसलिए शब्द पारिभाषिक है। परिभाषा का काम ही है सीमा निर्धारित करना और इसलिए मैं कह

सकता हूँ कि शब्द सीमित है। असीम के छोटे से छोटे खण्ड की परिभाषा करके उसको रूप देना, उसकी संज्ञा निर्धारित करना—यह शब्द का काम है। प्रत्येक शब्द किसी स्पष्ट वस्तु या किसी स्पष्ट प्रक्रिया का द्योतक है जो हमें ज्ञान के उपार्जन में सहायता देता है। इसे मैं एक उदाहरण देकर सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा।

मान लें किसी ने कहा "हम विकास की प्रक्रिया में अग्रसर हैं।" अब इस कथन में प्रत्येक शब्द का एक वैज्ञानिक प्रयोजन है। 'हम' से हमारा प्रयोजन एक समूह से है, कहने वाला जिसका एक भाग है। यह समूह किन लोगों का है, यह उस संदर्भ पर निर्भर है जिसमें यह बात कही गयी है। यह बात समस्त मानव समाज के लिए कही गयी हो सकती है या हम भारतवासियों के लिए कही गयी हो सकती है। वैसे इस 'हम' को और भी अधिक सीमित किया जा सकता था 'हम मानव' या 'हम भारतीय' या 'हम नवयुवक' कह कर क्योंकि 'हम' वाले समूह में प्राणि-मात्र का बोध हो सकता है। दूसरा शब्द 'विकास' है। 'विकास' शब्द एक ऐसी स्थिति का द्योतक है जो वर्तमान अवस्था से कहीं अधिक अच्छी है, सुखकर है और परिष्कृत है। इस स्थिति की रूप-रेखा अनिश्चित है क्योंकि अच्छाई, सुख और परिष्कार का न अन्त है और न सीमा है। इसलिए उस असीमत्व संज्ञा का बोध कराते हुए उस स्थिति की 'विकास' शब्द से परिभाषा कर दी गयी है। 'ओर' शब्द दिशा को इंगित करता है जिसमें अनुकूलता का भास है। 'अग्रसर' शब्द हमारे आगे बढ़ने की प्रक्रिया का बोध करता है। और 'है' शब्द वर्तमान काल का सूचक है। इस प्रकार जब कोई कहता है कि 'हम विकास की ओर अग्रसर हैं!' उस समय वह किसी भावना को व्यक्त नहीं करता, वह केवल एक वस्तु स्थिति का बोध कराता है।

इस कथन में भावना भी हो सकती है, लेकिन उस भावना का बोध इन शब्दों में नहीं है बल्कि किस प्रकार यह बात कही गयी, इस कथन के साथ स्वरों का जो उतार चढ़ाव है, शरीर की जो प्रक्रिया है उसमें है। इसका भी एक उदाहरण देने का मैं प्रयत्न करूँगा।

मेरी पत्नी मुझसे कहती है—'पानी बरस रहा है।' उसके इन शब्दों में केवल वस्तु-स्थिति का बोध है, लेकिन इन शब्दों में न जाने कितनी भावना निहित हो सकती हैं जो केवल मात्र शब्दों से व्यक्त नहीं होती, शब्द जिस भावना के व्यक्त करने में सहायक भर होते हैं। मान लीजिये कि बरसात की ऋतु आरम्भ हो गयी है, लेकिन उस दिन तक पानी नहीं

बरसा। लू के प्रचण्ड झोके चल रहे हैं, बच्चे बीमार पड़े हैं और हमारा सारा परिवार इस गर्मी से त्रस्त है। दोपहर के समय अपने कमरे को चारों ओर से बन्द करके मैं दर्शन का एक ग्रंथ पढ़ने में तन्मय हूँ। पत्नी दूसरे कमरे में बच्चों की देखभाल कर रही है और उसी समय पूरब दिशा से एक घटा उमड़ी, और थोड़ी ही देर में पानी बरसने लगा। मुझे ऋतु के इस अनायास परिवर्तन का कोई पता नहीं, मैं तो उस ग्रंथ में डूबा हुआ हूँ और उसी समय मेरी पत्नी दौड़ती हुई मेरे पास आती है; उसके होठों पर मुसकान है, उसकी आँखों में चमक है। अपने सुरीले कण्ठ से हँसते हुए वह कहती है—"पानी बरस रहा है!" और मेरा हाथ पकड़ कर वह मुझे उठाती है। और अनायास ही मेरी पत्नी की भावना मुझ तक पहुँच जाती है, ग्रंथ बन्द करके मैं उठता हूँ। मेरे मुख पर भी मुसकान है—मेरे अन्दर भी एक हर्ष है, मैं कहता हूँ, "अच्छा! चलो त्राण मिला।"

इस स्थान पर हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि "पानी बरस रहा है" शब्दों ने तो मुझे केवल वस्तु-स्थिति का बोध कराया, इन शब्दों ने किसी भावना को व्यक्त नहीं किया। भावना को व्यक्त किया मेरी पत्नी की चपल चाल ने, उसके अधरों की गति ने, उसके स्वर की गति ने; उसकी आँखों की गति ने और इसी गति ने मेरी भावना को प्रभावित भी किया।

यही चार शब्द, "पानी बरस रहा है।" जिन्होंने उल्लास को व्यक्त किया है निराशा और करुणा को भी वहन कर सकते हैं। एक किसान जिसका छप्पर टूटा हुआ है और बुरी तरह टपकता है, जिसका अनाज खुले में पड़ा हुआ है—और फागुन का महीना। वह अपनी झोपड़ी में लेटा सो रहा है और अनायास ही उसकी पत्नी आई है। उसके मुख पर हवाइयाँ उड़ रही हैं, एक तरह का भय उसकी आँखों में है, एक तरह की निराशा उसके स्वर में है और वह अपने पति से एक ठंढी साँस लेकर कहती है—"पानी बरस रहा है!" यहाँ इन्हीं चार शब्दों ने करुणा और निराशा को व्यक्त किया। यहाँ भी भावना को व्यक्त करती है उस किसान पत्नी का निःश्वास उसकी आँखों का बुझा हुआ सा होना, उसके स्वर का भारीपन।

शब्द का सम्बन्ध भावना से नहीं है, उसका सम्बन्ध ज्ञान से है। भावना शाश्वत है, ज्ञान विकास की चीज़ है। और इसीलिए मानव के विकास के साथ-साथ शब्दों की संख्या बेतहाशा बढ़ती जा रही है। असीम को खण्ड-खण्ड में विभक्त करके उसको सीमा प्रदान करना ज्ञान

का क्षेत्र है और जितना अधिक मनुष्य विकसित होता जाता है, शब्दों की संख्या भी उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। शब्द को भौतिक तत्व से सम्बद्ध मानने के लिए मेरा यही सब से बड़ा कारण है।

शब्द का सम्बन्ध चेतन तत्व से है—मैं इस स्थान पर इससे इनकार नहीं कर रहा हूँ, लेकिन यह सम्बन्ध केवल पारिभाषिक होने का है—ऐसा मेरा मत है। इस चेतन तत्व की अनुभूति में शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है।

अनुभूति स्वयम् में बुद्धि का भाग है अथवा नहीं है, मेरे लिए यह कहना कठिन है। पर यदि मैं बुद्धि को सर्वव्यापी मान लूँ तो मुझे अनुभूति को भी ज्ञान के समकक्ष ही बुद्धि का एक भाग मानना पड़ेगा—ज्ञान से बिल्कुल भिन्न, और उसकी सीमा से बाहर। ज्ञान भौतिक तत्वों से सम्बद्ध है, अनुभूति चेतन तत्व का गुण है।

चेतन अपने को अनुभव कर सकता है, पर अपने से ऊपर उठकर अपनी परिभाषा करना बिना ज्ञान की सहायता के उसके लिए सम्भव नहीं है। ज्ञान का क्षेत्र तर्क है, अनुभूति का क्षेत्र साधना है। तर्क का रूप सामाजिक रहा है, साधना व्यक्तिगत रही है। यद्यपि समय-समय पर साधना को नियमों से बाँधकर उसे सामाजिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है, पर इसमें मानव को हरदम असफलता ही प्राप्त हुई है। कुछ समय के लिए कुछ स्थानों पर साधना ने इस प्रकार सामाजिक-रूप भले ही ग्रहण किया हो, पर जो प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है वह हो ही नहीं सकता—इतिहास इस बात का साक्षी है। साधना का सामाजिक रूप केवल विवेक तक सीमित रह सकता है। अनुभूति इस सामाजिक-साधन की पहुँच के बाहर रही है। वैसे अनुभूति हरेक व्यक्ति में मौजूद है, पर अनुभूति भौतिक-प्रक्रियाओं से सम्बद्ध नहीं है और इसलिए वह नियमों से नहीं बाँधी जा सकती।

कला और साहित्य का सम्बन्ध अनुभूति से है इसलिए वह ज्ञान की सीमाओं से परे है। फिर भी कला का रूप—अर्थात् उसका शरीर तत्व—तो मौजूद है ही, और यह कला के शरीर तत्व का, भौतिक होने के कारण नियमों में बँधना अनिवार्य है।

जैसा मैं अभी कह चुका हूँ, भावना को वहन करने का माध्यम शब्द नहीं है। कलाओं में केवल साहित्य ही सशब्द कला है, अन्य कलाएँ निःशब्द है। और हम जानते हैं कि हरेक कला का उद्देश्य भावना

का व्यक्तीकरण है और हरेक कला भावना को वहन करने में समर्थ है। तब फिर हमारे सामने प्रश्न उठ खड़ा होता है—"भावना को वहन करने वाला माध्यम क्या है?"

और उत्तर मेरे सामने है—भावना को गति वहन करती है। आँख डबडबाई—आँसू बहे और भावना व्यक्त हो गयी। पैर थिरके—भावना व्यक्त हो गयी। स्वरों के उतार-चढ़ाव में भावना का व्यक्तीकरण है। तूलिका रंगों को किस लय और गति के साथ पटल पर बिखेरती है—वहाँ भावना है। हरेक कला में गति ही एक ऐसा माध्यम है जो भावना को वहन करता है।

हरेक कला में जो सर्वव्यापी तत्व है वह गति है। कलाओं का वर्गीकरण उन सहायक तत्वों से होता है जिनमें यह गति निहित होती है। संगीत में यह सहायक तत्व स्वर है, नृत्य में यह सहायक तत्व अभिनय है। चित्रकला में यह सहायक तत्व रंग है, मूर्तिकला में यह सहायक तत्व पत्थर या कांसा है। इन सहायक तत्वों को हम उपकरण का नाम दे सकते हैं।

वैसे साहित्य में शब्द प्रधान है क्योंकि विभिन्न कलाओं का वर्गीकरण उन उपकरणों के आधार पर हुआ है जिनमें कला केन्द्रित होती है। गति तो आधार-मूल तत्व है। गति का सबसे स्पष्ट भाग लय है, और इस लय को आधार बनाकर तीन कलाओं का जन्म हुआ है। लय और स्वर के योग से संगीत कला बनी, लय और अभिनय के योग से नृत्य-कला बनी, लय और शब्द के योग से काव्य कला बनी। जिस प्रकार संगीत में आधार लय है,, स्वर उपकरण है, नृत्य में आधार लय है, अभिनय उपकरण है उसी प्रकार काव्य में आधार लय है, शब्द केवल उपकरण है।

कविता का आधार लय अथवा गति में है, और हम देखते हैं कि प्रत्येक साहित्य का आदि रूप कविता में ही मिलता है। पर लय ही गति का एकमात्र रूप नहीं है, लय तो ऐसी गति है जिसका भौतिक रूप देखा या अनुभव किया जा सकता है। गति के दूसरे रूप भी हैं जो लय की भाँति स्पष्ट नहीं हैं।

साहित्य में जो पद्य भाग है, वह लय पर आधारित है पर उसके गद्य भाग में एक दूसरे प्रकार की गति होती है जिसे समझ लेना पड़ेगा। यह गद्य वाली गति कल्पना की है जिसने कहानी-कला को जन्म दिया है। कहानी वस्तु-जगत् से पृथक् कल्पना-जगत् की चीज़ है जो कहने वाले

की कल्पना को गति पर आधारित होती है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना पड़ा है कि अनादिकाल से कहानी कविता की सहायता करती आयी है यद्यपि स्वयम् कहानी को कला के अन्तर्गत बहुत बाद में माना गया है। वैसे यह कल्पना की गति जो कहानी के विकास और चरित्रों के कर्म करने में मिलती है, वह लय की सामंजस्य वाली गति की अपेक्षा अक्षम अथवा निर्बल किसी हालत में नहीं मानी जा सकती। वस्तुत: यह गति मानव के बौद्धिक विकास के साथ अधिक सक्षम और समर्थ बनती जा रही है, लेकिन यह सत्य है कि कहानी-कला की कल्पना वाली गति बौद्धिक होने के कारण विकास की चीज है और उसे मान्यता बहुत बाद में मिली है। इसीलिए अधिकांश प्राचीन साहित्य पद्य में मिलता है क्योंकि लय की गति मानव की आदि प्रवृत्ति है।

वैसे कहानी भी मानव की आदि प्रवृत्ति है, पर बौद्धिक होने के नाते कहानी में कला का निखार और परिमार्जन उसके निरन्तर विकास के साथ ही आ सका है। यह इस बात से स्पष्ट है कि आदि काल की कहानियों में देवताओं की कहानियों, भूत-प्रेतों की कहानियों एवं पशु-पक्षियों की कहानियों की प्रचुरता है। और यह कहानियाँ धर्म-शास्त्र, नीति- शास्त्र तथा अन्य उपयोगी शास्त्रों के उदाहरण के रूप में ही हैं, कला और साहित्य में शुद्ध कहानी के रूप में यह स्वीकृत नहीं हुई हैं। फिर भी कहानी की शक्ति और सक्षमता आदि काल में ही अनुभव कर ली गयी थी क्योंकि आज के दिन हमें जो प्राचीन काव्य प्राप्त होता है वह महाकाव्यों के रूप में ही, क्योकि महाकाव्यों ने कहानी-तत्व को अपना कर ही अमरता प्राप्त की है।

यह मानते हुए कि कला होने के नाते साहित्य का आधारमूल तत्व भावना है अर्थात् गति है, हमें साहित्य में शब्द एवं शब्दों द्वारा जनित एवं शब्दों में संचित ज्ञान और विचार को साहित्य का अविलग और सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग तो मानना ही पड़ेगा। मानव, शब्द को अपने से पृथक् कर ही नहीं सकता। बौद्धिक प्राणी होने के कारण मानव का समस्त अस्तित्व ही इन शब्दों में केन्द्रीभूत हो गया है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और शब्द सामाजिक उपकरण है। समाज से पृथक् किसी भी व्यक्ति को शब्द की कोई आवश्यकता नहीं—शब्द सामाजिक आदान-प्रदान का आधार है और इसी सामाजिक आदान-प्रदान में मानव का विकास है। इसीलिए मानव-विकास के क्रम में हम शब्द को सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानने को विवश हैं।

हमारे प्राचीन विचारकों और शास्त्रकारों ने अन्य कलाओं की अपेक्षा साहित्य को जो महत्वपूर्ण स्थान दिया है वह सम्भवतः इसलिए साहित्य में गति के योग से शब्द भावना को तो वहन करता ही है, वह स्वयम् अपनी शक्ति से—ज्ञान का पर्यायी होने के कारण—मानव-विकास में भी सहायक है। दर्शन, धर्म, विज्ञान, तथा अनेक शास्त्र, ये सभी शब्द में सीमित हैं और ये सब मानव-जीवन के महत्वपूर्ण और अभिन्न भाग बन चुके हैं।

फिर एक और प्रश्न स्वाभाविक-रूप से हमारे सामने उठ खड़ा होता है। वह प्रश्न यह है—भावना स्वयम् में ही ज्ञान और विज्ञान से पृथक् कैसे कही जा सकती है? ज्ञान और विज्ञान आखिर भावना की ही तो उपज हैं? यही नहीं, जब मनुष्य सामाजिक प्राणी है तब उसकी हरेक भावना का सामाजिक रूप भी होना चाहिये। हम हरेक भावना को सामाजिक उपकरण में ही देख और समझ सकते हैं। यह जो शब्द-हीन कलाएँ हैं, यह किसी हद तक अपूर्ण हैं क्योंकि शब्द में निहित परिभाषा के अभाव में, वे भावना का शुद्ध रूप जो समाज से सम्बन्धि है, प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं।

शब्दों की महत्ता को स्वीकार करते हुए इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि साहित्य कला है और कला होने के नाते साहित्य का सम्बन्ध ज्ञान-पक्ष से नहीं है, भावना-पक्ष से है। पर हरेक ज्ञान के पीछे एक भावना तो रहती है। ऐसी हालत में विकास में रत मानव के साहित्य का उद्देश्य हो जाता है ज्ञान का भावनात्मक व्यक्तीकरण।

ज्ञान का भावनात्मक व्यक्तीकरण—यह एक नया नारा अवश्य है, लेकिन मनोवैज्ञानिक ढंग से यह नारा ठीक है। आज की दुनिया में और विशेषतः पाश्चात्य देशों में साहित्य शब्द का बड़े व्यापक अर्थों में प्रयोग किया जा रहा है जिससे कुछ लोगों को कुछ भ्रम भी हो सकता है। कोई चीज नई ईजाद हुई, या बाजार में आयी, तो उसके साथ उसका साहित्य भी आता है। उस साहित्य से मतलब लिखित जानकारी से है जो उस चीज के सम्बन्ध में हमें केवल समझा ही न सके वरन् सन्तुष्ट कर सके। समझना या समझाना बौद्धिक प्रक्रिया है, लेकिन संतुष्ट करना या संतुष्ट होना भावनात्मक संज्ञा है और इसीलिए विज्ञापन के भावना पक्ष को स्वीकार करके हमने उसे साहित्य का नाम दे दिया है।

मानव के विकास के साथ ज्ञान में यह क्षमता तो आ ही गयी है कि वह भावना को किसी हद तक प्रभावित कर सके और इसलिए हम जिसे

प्रचारात्मक लेखन कहते हैं, उसे प्रचारात्मक साहित्य के नाम से पुकारा जाने लगा है। इस प्रचारात्मक साहित्य के सृजन के समय यह अनुभव किया जाता है कि जब तक उस साहित्य में कला को प्रमुखता नहीं मिलती तब तक भावनात्मक-रूप से वह प्रभावशाली नहीं होता।

और इस स्थान पर मैं आज के साहित्य को दो भागों में विभक्त कर सकता हूँ—(१) सृजनात्मक साहित्य और (२) प्रचारात्मक साहित्य।

जो शाश्वत और अमर साहित्य है, वह अधिकांश में सृजनात्मक साहित्य ही हो सकता है, प्रचारात्मक साहित्य प्रायः सामयिक और अस्थायी होता है। प्रचारात्मक साहित्य के जीवन की अवधि उस चीज के जीवन की अवधि से तो अधिक नहीं हो सकती जिसका वह प्रचार करता है। लेकिन प्रचारात्मक साहित्य भी कभी-कभी अमर और शाश्वत हो सकता है, यह साहित्यकार की शक्ति और क्षमता पर निर्भर है। यदि साहित्यकार प्रचार की वस्तु को केवल साधन बना कर चलता है तो उस साहित्य का जीवन अधिक हो जाता है, जहाँ प्रचार की वस्तु साध्य हो गयी वहीं उसका जीवन सीमित हो जाता है। प्रत्येक वस्तु का अपना निजी स्थान है और मैं साहित्य को आजीविका का साधन मानने में संकोच नहीं करता। आजीविका के लिए लिखित अधिकांश साहित्य प्रचारात्मक होता है यद्यपि सृजनात्मक साहित्य से भी आजीविका की समस्या हल हो सकती है। यह तो देश, काल और परिस्थियों पर निर्भर है। वैसे इतिहास यह बतलाता है कि सृजनात्मक साहित्यकार हमेशा साधक रहे हैं और उन्हें अपने जीवन-काल में भयानक अर्थ-संकटों का सामना करना पड़ा है।

शब्द के विकास के साथ कला में साहित्य की महत्ता बढ़ती गयी। इसका कारण यह है कि मानव ने हरेक निर्माण और विकास-कार्य में उसके भावनात्मक पक्ष को अनुभव किया है और भावना-पक्ष साहित्य का अंग है। वैसे भावना इस सृष्टि का आधारमूल तत्व है, पर विकासोन्मुख मानव अपनी भावना से विचार और बुद्धि को पृथक् नहीं रख सकता।

शब्द साहित्य का उपकरण है और शब्द में ही मानव का विकास है।

———

तीसरा परिच्छेद

साहित्य का स्रोत

हरेक आदमी में भावना है पर हरेक आदमी कलाकार नहीं है।

हरेक भावना से युक्त आदमी में बुद्धि है, पर हरेक आदमी कलाकार नहीं बन सकता।

कला का स्रोत न भावना में है न बुद्धि में है। कला एक प्रवृत्ति है और प्रत्येक प्रवृत्ति का स्रोत मनुष्य की अन्तर्प्रेरणा में है। इस अन्तर्प्रेरणा को नियमों में नहीं बाँधा जा सकता, यह अन्तर्प्रेरणा एक रहस्य की भाँति हरेक मनुष्य के अन्दर स्थित है, इसकी मनुष्य के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण सत्ता है। इस अन्तर्प्रेरणा को हम कर्म अथवा सृजन की प्रक्रिया कह सकते हैं।

मुझे कुछ ऐसा लगता है कि इस अन्तर्प्रेरणा का बौद्धिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। बुद्धि की पहुँच के बाहर, मानव के चेतन तत्त्व से सम्बद्ध ज्ञान की सीमा से परे ऐसी कोई शक्ति है जिससे समस्त सृष्टि शासित है। उस शक्ति के मानव के धर्म और विचार को प्रेरित करने वाले भाग को हमने अन्तर्प्रेरणा का नाम दे दिया है। जो धर्म को प्रेरित करती है, उसे हम प्रवृत्ति कह सकते हैं और कला को मैं प्रवृत्ति ही समझता हूँ। प्रवृत्तियों के अनेक वर्गीकरण किये जा सकते हैं, और समस्त ज्ञान-विज्ञान अथवा अन्य सृजनात्मक कार्य जो मनुष्य करता है, इसी प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित हैं। प्रवृत्ति स्वयम् ही एक प्रकार की भावना कही जा सकती है, पर जिस प्रकार हरेक भावना सर्वव्यापी है, प्रवृत्ति उस प्रकार सर्वव्यापी नहीं है। विभिन्न मनुष्यों में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों का उद्देश्य सृजन है और इनकी उपलब्धि आनन्द है।

गणितज्ञ को गणित के प्रश्न सुलझाने में आनन्द प्राप्त होता है, वैज्ञानिक को प्रकृति के रहस्य खोलने में आनन्द प्राप्त है। यही नहीं, एक साधारण माली जो चार-छै फूलों के योग से एक नए किस्म का फूल पैदा करने में लगा है, वह भी अपने आनन्द के लिए यह सब करता है।

कला का उद्देश्य भावना का सृजन है। इस भावना के सृजन को भावना का व्यक्तीकरण कहना अधिक उचित होगा—ऐसा मेरा मत है। भावना तो हरेक प्राणी में है, वह उस भावना को अनुभव करता है,

उसमें डूबता-उतराता रहता है। पर हरेक आदमी उस भावना को पकड़ नहीं पाता, वह अपनी भावना को कोई निश्चित रूप देकर साकार नहीं कर सकता। कला भावना को साकार रूप देती है, और इसलिए कला भावना के व्यक्तीकरण की प्रक्रिया होते हुए सृजन की प्रक्रिया है।

ज्ञान सीमित है क्योंकि वह हरेक व्यक्ति में समान भाव से स्थित नहीं है। भावना सर्वव्यापी है और इसीलिए जहाँ दर्शन, विज्ञान एवं अन्य बौद्धिक शास्त्र हैं उनका प्रभाव कुछ थोड़े से व्यक्तियों पर पड़ता है, वहीं कला की जन-जीवन में पहुँच है। कला हरेक व्यक्ति को प्रभावित करती है। लेकिन यह सत्य है कि प्रभावित वही कर सकता है जो मनोरंजन करने में समर्थ हो अर्थात् मन को बाँध सके। मनोरंजन भी वह सफल है जो आनन्द की सीमा तक पहुँच जाय। इसलिए अगर मैं कहूँ कि कला भावना की अभिव्यक्ति में आनन्द की सीमा तक पहुँचने वाले मनोरंजन का सृजन है तो शायद मेरा कथन सत्य के बहुत निकट पहुँच जाय।

कला का निजी-रूप (कलाकार के पक्ष वाला रूप जिसे हम अँग्रेजी में सबजेक्टिव रूप कहते हैं) आनन्द का सृजन है, कला का परोक्ष रूप (कलाकृति को ग्रहण करने वाले पक्ष का रूप जिसे हम अंग्रेजी में आबजेक्टिव रूप कहते हैं) मनोरंजन का सृजन है। इन शब्दों में मैं कला की परिभाषा तो नहीं कर रहा हूँ क्योंकि किसी भी चीज की परिभाषा पूरी तौर से नहीं हो सकती, पर इन शब्दों में कला के सम्बन्ध में मैं एक बहुत बड़ा सत्य कह रहा हूँ।

कलाकार जब किसी कलाकृति का सृजन करता है तब वह उस कलाकृति में स्वयम् तन्मय और विभोर हो जाता है। यह तन्मय और विभोर होने की अवस्था ही आनन्द की अवस्था है। कला का परोक्ष रूप मनोरंजन का सृजन करना तो है, पर इस मनोरंजन को आनन्द में परिणत कर देने में कलाकार की महत्ता मानी जाती है। मनोरंजन में मनोरंजन को ग्रहण करने वाले की संज्ञा स्थित रहती है जब कि आनन्द में आनन्द ग्रहण करने वाला अपने को खो देता है। महान् कला की कसौटी इसी बात में है कि वह मनोरंजन को कहाँ तक आनन्द की सीमा में पहुँचा सका है।

जो कला का निजी रूप है (कलाकार के पक्ष वाला) वह कलाकार का सत्य है, और इसलिए जब यह कहा जाता है कि कला कला के लिए होती है तब एक बहुत बड़ा सत्य स्पष्ट किया जाता है। इस सत्य

को बौद्धिक और सामाजिक मानव आसानी से मानने के लिए तैयार नहीं होता, यह भी सत्य है, और इसका कारण यह है कि सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के हरेक काम का एक सामाजिक रूप तो होना ही चाहिये। जहाँ तक समाज का प्रश्न है, वह कला पर अपना निर्णय सामाजिक मान्यताओं और परम्पराओं के अनुसार ही देगा। वैसे हरेक कला स्वान्तः सुखाय होती है, जिस कला का कलाकार अपने में तन्मय होकर सृजन नहीं करता उसमें कलाकार प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सकता; पर कलाकार के निजी पक्ष के साथ परोक्ष पक्ष अभिन्न-रूप से जुड़ा हुआ है, क्योंकि कला का सृजन दूसरों के लिए किया जाता है; और इसलिए सामाजिक मान्यताओं के अनुसार कला का बहुजन हिताय होना नितान्त आवश्यक है। जो कला बहुजन हिताय नहीं होती वह समाज में स्थान नहीं प्राप्त कर सकती।

पर कला की उत्कृष्टता, उसकी शक्ति और उसकी सफलता कला के स्वान्तः सुखाय वाले पक्ष में निहित है क्योंकि कला का स्रोत तो कलाकार की प्रवृत्ति और अन्तर्प्रेरणा, अर्थात् कलाकार की चेतन प्राण-शक्ति में है, और कलाकार का उद्देश्य अपने निजी आनन्द का सृजन है। यह तो अस्थायी अथवा प्रदर्शन वाली कलाएँ हैं—संगीत, नृत्य और अभिनय, इनमें स्वान्तः सुखाय वाला पक्ष स्पष्ट दीखता है क्योंकि इन कलाओं का प्रभाव तात्कालिक होता है। इन प्रदर्शनों में यदि कलाकार को अपनी कला के प्रदर्शन में स्वयम् आनन्द नहीं मिलता तो कलाकार अपनी कला से दर्शकों या श्रोताओं को प्रभावित नहीं कर सकता। कलाकार के मूड़ पर ही इन कलाओं की सफलता अवलम्बित रहती है। पर जहाँ स्थायी कलाओं का सम्बन्ध है, अर्थात् वे कलाएँ जिनमें मनुष्य को अपनी बुद्धि की सहायता से किसी स्थायी कला का सृजन करना होता है, वहाँ यह स्वान्तः सुखाय और बहुजन हिताय वाला प्रश्न भयानक रूप से उलझा हुआ है।

साहित्य में शब्द उपकरण है और शब्द विचार और ज्ञान को वहन करता है, विज्ञान और विचार सामाजिक उपकरण हैं, व्यक्ति के उपकरण नहीं हैं। ऐसी हालत में भौतिक विचारवालों का यह कथन कि यह जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, यह सब सामाजिक चेतना से प्रभावित हैं, गलत नहीं दीखता। समस्त प्रगतिवादी साहित्य की जड़ें इसी सिद्धान्त में हैं। जो सामाजिक विकास और चेतना की चीज है, उसमें नियंत्रण एवं परिष्कार आवश्यक है।

प्रगतिवाद में साहित्य को सामाजिक नियमों और प्रतिबन्धों में जकड़ दिया गया है। वहाँ साहित्य समाज-शास्त्र एवं राजनीति-शास्त्र से प्रेरित और अनुशासित है और इसलिए साहित्य का स्थान इन शास्त्रों की अपेक्षा नीचा माना जाता है। जब तक साहित्य सामाजिक मान्यताओं के अनुसार बहुजन हिताय नहीं है तब तक उसको समाज में स्थान नहीं मिल सकता। प्रगतिवाद, साहित्य का स्रोत सामाजिक चेतना में मानता है, वैयक्तिक प्रेरणा में नहीं।

लेकिन यह सामाजिक चेतना क्या है? इस सामाजिक चेतना का रूप क्या होना चाहिये? यही नहीं, बहुजन हिताय की मान्यता क्या हो सकती है या क्या होना चाहिये? बड़े उलझे हुए प्रश्न हैं यह। इन प्रश्नों का उत्तर देने का अधिकार व्यक्ति को नहीं है—इन प्रश्नों का उत्तर समाज ही दे सकता है। समाज का प्रतिनिधित्व करता है शासन; और फलतः इन प्रश्नों का उत्तर शासन ही दे सकता है। शासन ही यह निर्णय कर सकता है कि सामाजिक हित-अहित क्या, है क्योंकि वह सामाजिक हित-अहित का उत्तरदायी है। और हमें यहाँ पर यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना पड़ेगा कि आज के बौद्धिक युग में शासन-परम्पराएँ राजनीतिक दर्शनों और विचारधाराओं पर स्थित है। और यह भी सत्य है कि शासकों का हित साहित्य को विचार-प्रधान बना कर अपने राजनीतिक दर्शन को प्रतिपादित करने में ही है क्योंकि इसी से वह कायम रह सकता है। अपने निजी विचारों को मानवता का हित प्रतिपादित करके जनता पर आरोपित करना, राजनीतिक दलों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति 'कारण और कार्य' के सिद्धान्त के अन्तर्गत आती है, और सामाजिक प्रवृत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण करके उन्हें ज्ञान के अन्तर्गत कर दिया गया है। पर वैयक्तिक प्रवृत्तियों के वैज्ञानिक विश्लेषण में तथा उन प्रवृत्तियों पर अनुशासन करने में अभी तक मानव को सफलता नहीं मिली है, और मेरे मत से मिल भी नहीं सकेगी क्योंकि वैयक्तिक प्रवृत्ति सशक्त और सक्षम मानव में अन्तर्प्रेरणा के रूप में स्थित है। इस अन्तर्प्रेरणा में ही मानव का समस्त विकास है। इस अन्तर्प्रेरणा की अस्वीकारोक्ति मानव-विकास की अस्वीकारोक्ति है, इस अन्तर्प्रेरणा की अस्वीकारोक्ति भावना की घुटन है जहाँ जीवन रहने योग्य न रह जाय, इसकी अस्वीकारोक्ति एक भयानक मानसिक गुलामी का आरोपण है जहाँ दूसरों में घुटन और कुण्ठा के सिवा और कुछ नहीं है।

इस स्थान पर मुझे कुछ ऐसा लग रहा है कि मैं भावना में अनायास

बहने लगा हूँ। पर मेरी यह भावना ही तो मेरा समस्त सत्य है। मैं बहुजन हिताय वाले सिद्धान्त को स्वीकार अवश्य करता हूँ पर इस बहुजन हिताय वाले सिद्धान्त को साहित्य का स्रोत मानने को मैं तैयार नहीं हूँ। स्वान्तः सुखाय वाले तत्त्व में ही साहित्य का सृजन है, समाज द्वारा उस साहित्य की स्वीकृति बहुजन हिताय वाले तत्त्व पर निर्भर है।

साहित्य का क्षेत्र, जैसा मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ, आनन्द की सीमा तक पहुँचने वाला मनोरंजन है क्योंकि इस आनन्द अथवा मनोरंजन को भावना ग्रहण करती है, बुद्धि ग्रहण नहीं करती। यह दर्शन, यह समाज-शास्त्र, यह समस्त ज्ञान-विज्ञान, यह सब साहित्य की उपलब्धि नहीं है। दर्शन, समाज-शास्त्र तथा अन्य प्रकार के ज्ञान-विज्ञान को मैं साहित्य का साधन मान सकता हूँ, मैं उन्हें साहित्य का साध्य मानने को तैयार नहीं हूँ। प्रगतिवाद में राजनीतिक दर्शन और समाज-शास्त्र को साहित्य का साध्य माना गया है, आनन्द और मनोरंजन को केवल साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। मेरे मत में यहीं प्रगतिवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है, क्योंकि प्रगतिवाद में कला के मूल-स्रोत को ही अस्वीकार करके साहित्य की महत्ता हरण कर ली गयी है।

ज्ञान में अनुभूति नहीं है, अनुभूति साहित्य और कला में है। यह अनुभूति का तत्त्व ही साहित्य का मूल तत्त्व है क्योंकि इसी में आनन्द का सृजन है। वैसे हम ज्ञान का उपार्जन निरुद्देश्य नहीं करते, मानव के समस्त व्यापार का एक मात्र उद्देश्य है आत्म-तुष्टि। पर आत्म-तुष्टि और अनुभूति में अन्तर है। आत्म-तुष्टि वैयक्तिक है, वह केवल व्यक्ति तक सीमित है, अनुभूति में वैयक्तिक पक्ष होने के साथ उसका सामाजिक पक्ष भी है, वह दूसरों को वितरित की जा सकती है। यह अनुभूति भावना का अवयव है जो कि समस्त मानव समाज में व्याप्त है जबकि ज्ञान, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, विकास की चीज है और उसका एक सीमित भाग ही कुछ इने-गिने लोगों को प्राप्त हो सकता है। वैसे ज्ञान स्वयम् भी सामाजिक संज्ञा है, लेकिन यह सामाजिक संज्ञा विकास के नियमों से बँधी हुई है।

इतना सब कह लेने के बाद मैं इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि दुनिया का अधिकांश साहित्य ज्ञान से प्रभावित है। इस साहित्य में आनन्द और मनोरंजन स्वयम् में साध्य नहीं हैं वरन् साधन हैं। इस साहित्य में साध्य हैं दूसरे उपकरण। यह बात वर्तमान युग के साहित्य पर ही लागू नहीं होती है, यह बात हरेक युग के साहित्य पर

समान भाव से लागू होती रही है। बौद्धिक मानव ने अनादि काल से यह अनुभव किया है कि किसी भी बात की सिद्धि के लिए उसमें मनोरंजन-पक्ष होना आवश्यक है क्योंकि मनोरंजन ही भावना को प्रभावित कर सकता है।

राज्याश्रय में पलने वाले कवियों और साहित्यकारों ने अपने संरक्षकों की कितनी खुशामद नहीं की उनसे अर्थ प्राप्त करने के लिए। विलासी, शोषण करने वाले, अत्याचारी और क्रूर राजाओं को इन्द्र, कुबेर, शिव, विष्णु आदि देवताओं की उपमा देकर तथा उन्हें देवताओं की कोटि में बिठला कर उनसे रुपया लेने में और आजीविका प्राप्त करने में साहित्य का मनोरंजन-पक्ष उन कवियों का साधन ही बन पाया है साध्य कब रहा है? उनका साध्य तो रहा है अर्थ-प्राप्ति अथवा अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन। वैसे उस युग की, जब राजाओं को ईश्वर का अंश माना जाता था, मान्यताओं और विश्वासों के अनुसार कलाकार को इस झूठी प्रशंसा में कोई कुण्ठा नहीं होती थी और इस प्रकार के साहित्य में कुछ अमर कृतियों का भी सृजन हो गया क्योंकि इन कृतियों को लिखने वाला साहित्यकार सशक्त और सक्षम था तथा उसके पास विश्वास के रूप में युग की मान्यता थी, पर इस प्रकार के उदाहरण बहुत थोड़े हैं।

गणित, ज्योतिष, औषधि आदि अनेक वैज्ञानिक विषयों को छन्दोबद्ध कर देने से विद्यार्थियों का मनोरंजन होता है और उन्हें यह विषय आसानी से कण्ठस्थ हो जाते हैं। इसलिए इन विषयों को पद्य-बद्ध करके संस्कृत में बहुत बड़े साहित्य की रचना हुई है। पर इस साहित्य में स्पष्ट-रूप से मनोरंजन साधन है, साध्य नहीं है, और जहाँ कहीं मनोरंजन साध्य के रूप में दिखता है वहाँ वह भावना से बहुत दूर है।

सफल साहित्य वह है जिससे ज्ञान के स्थान पर आनन्द अथवा मनोरंजन की प्राप्ति हो। वैसे ज्ञान बौद्धिक मानव का अविलग भाग है पर साहित्य का क्षेत्र उस ज्ञान की उपलब्धि के नियमों से नहीं बँधा है। ज्ञान को ग्रहण करने वाला मन नहीं है, ज्ञान को ग्रहण करती है बुद्धि, यह हमें किसी भी दशा में न भूलना चाहिये। कला का सम्बन्ध मन से है, बुद्धि से नहीं है; मन का क्षेत्र अनुभूति है, ज्ञान नहीं है।

यहाँ फिर से एक बात स्पष्ट कर देनी पड़ेगी। कला एक प्रवृत्ति है जो हमें अन्य दूसरी प्रवृत्तियों की भाँति प्राप्त होती है। कला की प्रवृत्ति के विकास में बुद्धि उसी प्रकार सहायक होती है जिस प्रकार वह अन्य प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होती है। जिसे हम अपनी भाषा में अन्तर्प्रेरणा या अँग्रेजी में इन्ट्यूशन (Intuition) कहते हैं, प्रवृत्ति उस

व्यापक शक्ति का एक साधारण भाग भर है। अन्तर्प्रेरणा अपनी व्यापकता और सक्षमता के साथ कलाकार में उसी प्रकार स्थित हो सकती है जिस प्रकार किसी उच्च कोटि के दार्शनिक, वैज्ञानिक अथवा अन्य किसी क्षेत्र के व्यक्ति में, लेकिन यह कोई आवश्यक नहीं है कि अन्तर्प्रेरणा हरेक कलाकार में अपने शक्तिशाली और व्यापक रूप में मिले, ठीक उसी तरह जैसे हरेक दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक में इस अन्तर्प्रेरणा का होना आवश्यक नहीं है।

आज के दिन कुछ साहित्यकारों और कवियों में यह प्रथा सी चल गयी है कि वह कलाकार को द्रष्टा कह कर घोषित करें। न जाने कितने उठते हुए नवयुवक जो कला के पीछे दीवाने हैं अपने को द्रष्टा घोषित करते घूम रहे हैं - अपनी विकृतियाँ और कमजोरियाँ लिए हुए। मुझे तो इन लोगों पर हँसी आ जाती है। अन्य कलाकारों की बात छोड़ दें, स्वयम् कवियों और साहित्यकारों में द्रष्टा कोटि के व्यक्ति एक या अनेक युगों में एक या दो ही मिलेंगे। साहित्यकार को द्रष्टा कहने की प्रथा स्वयम् गैरजिम्मेदार और कच्ची बुद्धि के साहित्यकारों द्वारा अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए ही चल पड़ी है।

अन्तर्प्रेरणा साहित्य को महानता प्रदान करती है, पर अन्तर्प्रेरणा की अपनी निजी स्वतन्त्र सत्ता है। अन्तर्प्रेरणा का प्रवृतिवाला भाग ही साहित्य अथवा कला से सम्बद्ध है, अपने व्यापक क्षेत्र में अन्तर्प्रेरणा महानता का सृजन करती है। महान् संतों में, महान् वैज्ञानिकों में और प्रायः समस्त महान् व्यक्तियों में अन्तर्प्रेरणा का यह व्यापक-रूप मिलेगा। इसलिए अन्तर्प्रेरणा को महान् साहित्य का ही स्रोत माना जा सकता है, हरेक साहित्य का स्रोत नहीं।

एक बहुत बड़ी भ्रान्त धारणा लोगों में फैली हुई है कि कलाकार भावना-प्रधान प्राणी होता है। जहाँ तक भावना का प्रश्न है, वह समान भाव से हरेक व्यक्ति में मौजूद है। भावना की प्रचुरता अथवा जिसे हम भावुकता कहते हैं, उससे कला का कोई सम्बन्ध नहीं है। कला केवल भावना के व्यक्तीकरण की प्रवृत्ति भर कही जा सकती है।

कलाकार द्वारा भावना के व्यक्तीकरण से साधारण व्यक्ति में यह भ्रान्त धारणा फैल जाना स्वाभाविक है कि कलाकारभावना प्रधान-प्राणी होता है। वास्तविकता तो यह है कि कलाकार बुद्धि-प्रधानप्राणी है क्योंकि भावना के सफल और प्रभावोत्पादक व्यक्तीकरण में बुद्धि का बहुत बड़ा हाथ रहता है। ज्ञान और बुद्धि मानव के अविलग अंग हैं

और इसलिए कला की प्रवृत्ति को रूप ग्रहण करने के लिए बुद्धि की सहायता की आवश्यकता होती है।

इधर कुछ समय से कला को आशु अथवा जिसे हम अंग्रेजी में स्पान्टेनियस (Spontaneous) कहते हैं, कहने की प्रथा-सी चल पड़ी है। इस बात को प्रतिपादित करने वाले अधिकांश में वह कलाकार हैं जो केवल शौक के लिए कला को देखते-समझते हैं। केवल कला की प्रवृत्ति कला का निजी पक्ष भले ही हो, वह कला का परोक्ष अथवा सामाजिक पक्ष तो नहीं है। यह कला की प्रवृत्ति व्यक्ति की अपनी निजी चीज है लेकिन इसे सामाजिक रूप ग्रहण करने के लिए कला को बौद्धिक नियमों से बँधना पड़ता है। इसीलिए अंग्रेजी में कला का पर्यायी शब्द आर्ट में कृत्रिमता (Artificiality) का बोध है क्योंकि यह कृत्रिमता ही कला को सामाजिक रूप देती है।

भावना में आन्तरिक प्रेरणा अवश्य है, पर यह भावना तो कला का रूप-हीन प्राण भर है, इस अरूप प्राण की प्रतिष्ठा तो शरीर में ही हो सकती है। इसीलिए जिसे हम कला का उपकरण कहते हैं—शब्द, स्वर, अभिनय आदि, यह सब बौद्धिक नियमों में बँध कर कला के शरीर-तत्त्व का निर्माण करते हैं। भावना-रूपी प्राण की प्रतिष्ठा इस शरीर में ही की जा सकती है। शब्द को गति प्रदान करना—यह बौद्धिक प्रक्रिया है। इस बौद्धिक प्रक्रिया को हम चेतन अवस्था में ग्रहण करें, यह आवश्यक नहीं है। चेतन अवस्था में इस बौद्धिक प्रक्रिया को ग्रहण करने से कला के प्राण-तत्त्व की क्षति होती है, इसे हम अचेतन अथवा अर्ध चेतन अवस्था में ही ग्रहण करते हैं।

अन्तर्प्रेरणा द्वारा जनित प्रवृत्ति में ही हरेक कला का स्रोत है, पर कला को रूप देने वाली, कला को समाज द्वारा ग्राह्य बनाने वाली संज्ञा बुद्धि है। और इसीलिए अनादि काल से ही समर्थ और सफल साहित्यकार वही बन सका है जो बहुत बड़ा बौद्धिक प्राणी रहा है। लोक-साहित्य में भावना-प्रधान बहुत कुछ लिखा गया है, लेकिन वह सब अस्थायी रहा है, स्थायित्व प्रदान करना बौद्धिक परिष्कार का काम रहा है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी—ये सब के सब महान् बौद्धिक प्राणी रहे हैं। जहाँ बुद्धि की न्यूनता अथवा अवहेलना रही है, वहाँ कोई भी प्रवृत्ति कला का रूप धारण नहीं कर सकी। जिस लोक-कला और लोक-साहित्य की आज दुहाई दी जाती है, वह केवल फैशन के रूप में ही। इस लोक-कला और लोक-साहित्य में स्थायित्व के तत्त्व कभी रहे ही नहीं, रह, भी

नहीं सकते थे। और लोक-कला या लोक-साहित्य को समाज में पुनः जीवित करने में जितना श्रम और व्यय किया जा रहा है, वह निरर्थक ही साबित हो रहा है।

बुद्धि कला का आधार नहीं है, यह स्वीकार करते हुए भी हमें यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बिना बुद्धि की सहायता के अन्तर्प्रेरणा की कोटि तक पहुँचने वाली प्रवृत्ति भी कला का सृजन नहीं कर सकती। कला में भावना और बुद्धि का संतुलन नितांत आवश्यक है।

अन्य कलाओं की अपेक्षा साहित्य का बुद्धि से अत्यधिक निकट सम्बन्ध है, क्योंकि साहित्य का उपकरण शब्द है। शब्द ही ज्ञान को वहन करता है। इस ज्ञान ने साहित्य को प्रेरित और प्रभावित किया है। जो साहित्य ज्ञान से प्रेरित है उसे कला की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता, वह आलोचनात्मक या विवेचनात्मक साहित्य रहा है, और उसे शास्त्र के अन्तर्गत रक्खा जाना चाहिये। यह आलोचनात्मक या विवेचनात्मक साहित्य हमेशा से सृजनात्मक साहित्य के नीचे रहा है क्योंकि इस साहित्य में सृजनात्मक साहित्य के विश्लेषण से ही निष्कर्ष निकाले जाते हैं। सृजनात्मक साहित्य ज्ञान द्वारा प्रभावित होता है, लेकिन वह ज्ञान अंतर्मुखी होकर अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेता है, वह विवेचनात्मक नहीं हुआ करता।

एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उठ खड़ा होता है वह यह है—क्या साहित्य वैयक्तिक चेतना की उपज है या वह सामाजिक चेतना की उपज है?

भौतिकता के दर्शन पर विश्वास वालों का कहना है कि साहित्य सामाजिक चेतना की उपज है। वह वैयक्तिक चेतना को मानते ही नहीं। वह सामाजिक चेतना को ही एकमात्र समझते हैं, और वह प्रवृत्ति को व्यक्ति के ऊपर अचेतन अथवा अर्ध चेतन अवस्था में सामाजिक चेतना के प्रभाव से मुक्त समझ ही नहीं सकते। उन लोगों का तर्क निर्बल या निरर्थक नहीं कहा जा सकता, वैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रवृत्ति और अन्तर्प्रेरणा का स्रोत भी तो कहीं न कहीं होना चाहिये। सामाजिक प्रभाव को तो मैं स्वीकार करता हूँ, लेकिन इस सामाजिक प्रभाव को मूल स्रोत मैं नहीं समझ सकता। यहीं उन लोगों से मेरा मतभेद है।

व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत उलझा हुआ है, या यह कहना अधिक उचित होगा कि उस सम्बन्ध को ठीक तरह से समझने में हमें बड़ी उलझन होती है। जहाँ तक मेरा मत है, मैं व्यक्ति को समाज द्वारा निर्मित नहीं मानता केवल व्यक्ति को समाज द्वारा प्रभावित मानता हूँ। प्रभाव पूरी तौर से हो सकता है, आंशिक हो सकता है और नहीं भी

हो सकता है। यही नहीं, मैं तो यह भी समझता हूँ कि समाज का जो भी रूप हमारे सामने है, उसे व्यक्ति ने बनाया है। व्यक्ति का साधारण जीवन समाज द्वारा परिचालित अवश्य है क्योंकि व्यक्ति समाज का भाग बन कर समाज में स्थित रहता है, और उसे समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करना ही पड़ता है, पर मैं व्यक्ति की एक पृथक् आधारमूल सत्ता मानता हूँ, समाज से हट कर।

इस स्थान पर मुझे लगता है कि मैं अपने विषय से दूर हट गया हूँ। व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध इस समय मेरा विषय नहीं है। मुझे तो यह प्रतिपादित करना है कि साहित्यकार व्यक्ति है और वह अपनी निजी भावना से प्रेरित होकर उस साहित्य का सृजन करता है जो उसका सत्य है। उसका निजी सत्य सामाजिक सत्य होने के कारण समाज द्वारा या दूसरों द्वारा स्वीकार किया जाय, या दूसरों द्वारा अर्थात् समाज द्वारा अमान्य होने के कारण अस्वीकार किया जाय, यह दूसरी बात है। ऐसी हालत में मैं साहित्य का स्रोत समाज को किसी भी हालत में नहीं मान सकता।

समाज द्वारा प्रेरित साहित्य की परम्परा अति प्राचीन है—मैं यह स्वीकार करता हूँ। धर्म, जो आदि काल में साहित्य के सृजन मे बहुत अंश तक कारण रहा है, समाज का मुख्य रूप है। पर ऐसे साहित्य में जीवित वही साहित्य रह सका है जिसमें समाज की प्रेरणा और व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ एक रूप हो गए हैं। जो शुद्ध सामाजिक-मान्यता द्वारा प्रेरित साहित्य है अर्थात् जिसमें साहित्यकार के विश्वास तथा उसकी आन्तरिक प्रवृत्तियों के अभाव की शिथिलता है, वह साहित्य अमरता प्राप्त करना तो दूर रहा, प्रभावशाली भी नहीं बन सका।

साहित्यकार की सफलता अथवा असफलता सामाजिक उपकरण है, वैयक्तिक उपकरण नहीं है, इस बात को भी मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। यदि समाज किसी साहित्य को स्वीकार नहीं करता तो उस साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं। समाज में साहित्य का स्रोत तो नहीं है, पर साहित्य को ग्रहण समाज ही करता है। साहित्य का स्रोत तो व्यक्ति की प्रवृत्ति में है और महान् साहित्य वह होता है जहाँ प्रवृत्ति अन्तर्प्रेरणा का रूप धारण कर ले। यह प्रवृत्ति और अन्तर्प्रेरणा क्या है? इनका स्रोत कहाँ है, इनका रूप क्या है? यह ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए केवल अनुमान से काम लिया जा सकता है।

चौथा परिच्छेद

साहित्य का प्रभाव

किसी भी पाठक पर साहित्य का कैसा प्रभाव पड़ता है, इसी से उस साहित्य की सार्थकता, राक्षमता और सफलता निर्धारित की जा सकती है। इस सत्य को स्वीकार कर लेने के बाद हमें साहित्य के प्रभाव का क्या रूप होगा, इसे समझना पड़ेगा।

साहित्य का क्षेत्र भावना है। भावना को मानव की भावना ही ग्रहण कर सकती है, बुद्धि नहीं। मेरा तो अनुभव है कि साहित्य एवं अन्य कलाओं की उपलब्धि भावना का एकीकरण है जहाँ साहित्यकार या अन्य कलाकार दूसरों को अपनी भावना में तन्मय कर देता है। कलाकार की भावना का निजी रूप अर्थात् कलाकार वाला रूप उसका वैयक्तिक अवश्य है, पर उस भावना का परोक्ष रूप या सामाजिक अथवा पाठक या दर्शक वाला रूप ही सामाजिक सत्य है। इस सामाजिक सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

भावना शब्द स्वयम् निर्गुण संज्ञा है, इस भावना को गुणों और विकृतियों में विभाजित किया है समाज ने इसलिए भावना के गुण एवं विकृतियाँ सामाजिक संज्ञाएँ हैं। गुण और विकार की मीमांसा दर्शन शास्त्र का विषय है, पर साहित्य के क्षेत्र में गुण और विकार का सम्बन्ध प्रत्येक स्थान पर उठ खड़ा होता है। इसलिए गुण और विकार का पारस्परिक सम्बन्ध हमें निर्धारित कर लेना पड़ेगा, गुण और विकार की परिभाषा करके।

गुण भावना की वह प्रवृत्ति है जो मानव में सक्रिय है। विकार इस गुण की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति है जो मानव में विद्यमान तो है लेकिन साधारणतः सक्रिय नहीं होते। समाज का निर्माण मानव-भावना की सक्रिय प्रवृत्ति से ही हुआ है, यह जो प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति है वह सामाजिक व्यक्तिक्रम उत्पन्न करती है और इसीलिए यह प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति समाज के लिए विनाशकारिणी मानी जाती है। इस प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति को इसीलिए विकार का नाम दिया गया है।

पर जहाँ क्रिया है वहाँ उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होगी, और इस

लिए जहाँ गुण है वहाँ विकार का होना अवश्यम्भावी है। हमारे ऋषियों द्वारा जो ब्रह्म की परिभाषा की गयी है, वहाँ ब्रह्म को निर्गुण और निर्विकार कहा गया है। गुण की रचना के साथ विकार की रचना स्वतः होती जाती है।

क्या हम बिना घृणा को अनुभव किये प्रेम शब्द की स्थिति स्वीकार कर सकते हैं? प्रेम शब्द ही निरर्थक है यदि घृणा शब्द न हो। प्रेम नामक गुण का जैसे ही सृजन हुआ वैसे ही प्रतिक्रिया के रूप में घृणा रूपी विकार का उसी समय सृजन हो गया। इसी प्रकार बिना मिथ्या के सत्य का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। दया शब्द की हम कल्पना ही नहीं कर सकते यदि हम क्रूरता के रूप को न जान लें।

मानव में गुण सक्रिय माना जाता है क्योंकि समाज जिसे रचनात्मक समझता है उसी को गुण का नाम देता है। स्वयं समाज की रचना ही गुण से हुई है। सत्य, विश्वास, प्रेम, दया, ममता, अहिंसा के बल पर ही परिवार, कुटुम्ब, कुल, जाति, राष्ट्र आदि सामाजिक इकाइयों की स्थापना हो सकी है। इन सामाजिक इकाइयों पर समय-समय पर जो व्याघात पहुँचता रहता है वह मानव के अन्दर प्रतिक्रिया के रूप में स्थित विकारों के कारण, जो वैसे तो मानव के अन्दर निष्क्रिय-रूप में विद्यमान हैं, लेकिन प्रतिक्रिया के रूप में तेजी के साथ सक्रिया हो जाते हैं और अपने विनाशी:कारिणी आवेश की गति से सशक्त होकर कुछ समय के लिए गुणों को ढक लेते हैं। इन्हीं विचारों के कारण अनादि काल से विश्व में महायुद्ध तथा अनेक विनाशकारी ताण्डव होते रहे हैं।

विचार सक्रिय न बन सके, मनुष्य में गुण ही सक्रिय रहे, यह काम विवेक का है जो भावना पर शासन और भावना का संचालन करता है। विवेक किस प्रकार गुण और विकार की मर्यादा कायम रक्खे, यह प्रश्न बौद्धिक भी है, भावनात्मक भी है। विवेक का बौद्धिक प्रश्न दर्शन-शास्त्र के रूप में आता है, विवेक का भावनात्मक पक्ष साहित्य के रूप में आता है। और इसी लिए हम देखते हैं कि धर्म का आदि रूप दार्शनिक होने के साथ-साथ साहित्यिक भी है।

गुण और विकार की सीमा का निर्धारण बड़ा जटिल काम रहा है। गुण और विकार सामाजिक मान्यताएँ हैं और बदलते हुए समाज के साथ यह मान्यताएँ भी थोड़ी-बहुत बदलती जाती हैं। ऐसी हालत में केवल उन मान्यताओं को जो रचनात्मक हैं, बिना किसी सामाजिक संदर्भ के, गुण की कोटि में रखना उचित होगा।

अब इस स्थान पर एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है। जो प्रतिक्रियात्मक निष्क्रिय विचार है वह समय-समय पर सक्रिय बनकर समाज को नष्ट कैसे कर सकता है ? यही नहीं, जिन्हें हम गुण कहते हैं उन्हें हम मानव के सक्रिय तत्त्व कैसे समझ लें और विकारों को प्रतिक्रियात्मक निष्क्रिय तत्त्व कैसे मान लें ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए मुझे अपने विषय से कुछ हटना अवश्य पड़ेगा, लेकिन बिना इन प्रश्नों का उत्तर दिये मैं अपनी मान्यता को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत न कर सकूँगा।

मेरा आधारमूल कथन है कि साधारण मनुष्य में गुण सक्रिय है और विकार निष्क्रिय है। पर हर नियम के साथ उसका अपवाद भी रहता है। यदि यह नियम निन्नानबे प्रतिशत लोगों के सम्बन्ध में स्वाभाविक है तो एक व्यक्ति ऐसा भी मिल सकता है जिसमें अपवाद के रूप में विकार सक्रिय हो और गुण निष्क्रिय हो। उदाहरण के रूप में प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से सत्यवादी है। यदि वह भूठ बोलता है तो इसलिए कि वह भूठ बोलने के लिए किन्हीं कारणों से विवश है। हम किसी भी अनजाने स्थान में अनजाने लोगों के बीच में पड़ जाते हैं, हम लोगों से उनके सम्बन्ध में उस स्थान के सम्बन्ध में पूछते हैं और वे हमें अपनी सामर्थ्य के अनुसार सही-सही उत्तर देते हैं। यह इसलिए कि उनमें सत्य सक्रिय गुण के रूप में विद्यमान है। पर हमें एकाध आदमी ऐसा भी मिल जायगा जो स्वभाव से मिथ्याभाषी है और अकारण ही भूठ बोलता है। उसे इस भूठ बोलने में आनन्द आता है। मान लें कि हम किसी अनजाने गाँव में पहुँच गए। वहाँ हमें यह समाचार मिला कि हमें तत्काल ही पहली गाड़ी से चल देना चाहिये जिससे हमारा एक बहुत बड़ा नुकसान बच जायगा। हमें स्टेशन का रास्ता नहीं मालूम। हम एक रास्ता चलते हुए आदमी से स्टेशन का रास्ता पूछते हैं। स्वाभाविक रूप से हम यह आशा करते हैं कि वह व्यक्ति हमें स्टेशन का सही रास्ता बतलाएगा। हम उसके बतलाए हुए मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। पर दुर्भाग्यवश वह आदमी मानव-समाज का नियम न होकर अपवाद निकला। उसने ठीक रास्ता बतलाने के स्थान पर विपरीत दिशा की ओर संकेत कर दिया और हम उसी ओर चल पड़े। परिणाम यह हुआ कि हम ठीक समय से स्टेशन नहीं पहुँच सके, विलम्ब हो जाने के कारण हमारा बहुत बड़ा नुकसान हो गया। यही नहीं हमें शारीरिक और मानसिक कष्ट ऊपर से हुआ।

जिस आदमी ने हमें गलत रास्ता बतलाया था उसमें मिथ्या का

विकार सक्रिय था। उसने हमारे हित-अहित पर कभी कुछ सोचा ही नहीं, उसने तो केवल अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार कर्म किया। पर उसके कर्म का प्रभाव हम पर पड़ा, हमारे सगे-सम्बन्धियों पर पड़ा, हमारे कुटुम्बवालों पर पड़ा। उसके उस छोटे-से अकारण मिथ्या-भाषण से हम लोगों का जो अहित हो गया उसका बदला उससे भी अधिक भयानक मिथ्या-भाषण से हमने दिया। और इसका परिणाम यह हुआ कि हममें, हमारे सम्बन्धियों में, हमारे कुटुम्बवालों में जो मिथ्या का विकार निष्क्रिय पड़ा था, वहे सक्रिय हो गया। हमारे सगे-सम्बन्धियों के इस प्रतिक्रियात्मक भापण की प्रतिक्रिया उसके सगे-सम्बधियों पर पड़ेगी। और इस प्रकार अनेक मानवों में सत्य के गुण के स्थान पर मिथ्या का विकार सक्रिय हो जयगा।

मेरा कुछ ऐसा अनुभव रहा है कि साधारण मनुष्यों में जो विकृतियाँ दीखती हैं वह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ न होकर प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ वह हैं जो अकारण हों। अकारण ही झूठ बोलनेवाला क्रूर, घृणा से भरा हुआ आदमी मुझे यदा-कदा ही दिखा है। अधिकांश में विकृतियों के जो दर्शन हम लोगों को होते हैं वह प्रतिक्रियात्मक विकृतियाँ ही होती हैं और इसी स्थान पर साहित्य की सामाजिक उपयोगिता हमारे सामने आती है। भावनात्मक होने के कारण साहित्य ही हमें इन प्रतिक्रियात्मक विकृतियों से बचा सकता है।

सामाजिक संदर्भ में प्रतिक्रियात्मक विचार को दबाना और मनुष्य के स्वाभाविक गुण को विकसित करना साहित्य का क्षेत्र माना जा सकता है। यह क्षेत्र अन्य कलाओं का भी हो सकता है, लेकिन साहित्य पर इसकी जिम्मेदारी सब से अधिक है क्योंकि साहित्य का उपकरण शब्द है और शब्द स्वयम् में सामाजिक उपकरण है।

भावना का व्यक्तीकरण कला का क्षेत्र होने के नाते साहित्य का क्षेत्र अवश्य है, पर शब्द के सामाजिक उपकरण होने के कारण साहित्यकार को भावना के सम्बन्ध में सतर्क होना पड़ेगा। केवल वह भावना जो गुण की कोटि में आती है और जो समाज के निर्माण एवं उसकी सुव्यवस्था में सहायक होती है, साहित्य में स्थान पाने के योग्य हैं। वह भावना जो विचार की कोटि में आती है समाज का विरोधी तत्त्व होने के कारण साहित्य में वर्जित समझी जायगी।

और इसी लिए भावना के व्यक्तीकरण के साथ-साथ साहित्य का क्षेत्र भावना का उदात्तीकरण भी हो जाता है।

मनुष्य बौद्धिक प्राणी है और शब्द ज्ञान का वाहक है। ऐसी हालत में साहित्य से बौद्धिकता को अलग रखना असम्भव होगा। मैं बौद्धिकता को साहित्य का अनिवार्य और अविलग अंग समझता हूँ। पर यहाँ मुझे एक बात और भासित होती है, जो बौद्धिकता साहित्य का अविलग और अनिवार्य अंग है वह विवेकपक्ष वाली बौद्धिकता है, ज्ञान-पक्ष वाली बौद्धिकता नहीं है, क्योंकि विवेक बुद्धि से शासित भावना है और ज्ञान कौतूहल से शासित बुद्धि है।

पर इससे यह न समझ लिया जाय कि मैं साहित्य में ज्ञान को कोई महत्त्व ही नहीं देता। मेरा तो ऐसा मत है कि मनुष्य जितना अधिक विकसित होता जायगा उतना ही अधिक वह साहित्य में ज्ञान को सम्मिलित करेगा। इस विकसित-मानव के जीवन का अधिकांश भाग ज्ञान के क्षेत्र में बीतेगा, अर्थात् वह उस समय भावना-हीन प्राणी के समान दिखेगा। हम अकसर लोगों के लिए कह दिया करते हैं कि वह आदमी नहीं, मशीन है। मनुष्य के साथ मशीन की तुलना भावना की अनुपस्थिति की द्योतक है। पर मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि भावनाहीन ज्ञान निष्प्राण होगा, साहित्य का प्राण तो उसकी भावना ही है।

उन्नत और विकसित साहित्य में ज्ञान का भावनात्मक व्यक्तीकरण होना चाहिये, ऐसा अनेक आचार्यों और विचारकों का मत है और मुझे इस मत से असहमत होने का कोई कारण नहीं दिखता। पर यह ज्ञान भौतिक तत्त्व की अपेक्षा चेतन तत्त्व का होना चाहिये। और इसीलिए दर्शन-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र साहित्य के अधिक निकट आते हैं।

अधिकांश पाश्चात्य आलोचक और विद्वान् साहित्य की महानता दर्शन-शास्त्र की पृष्ठभूमि में देखते हैं। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि दर्शन-शास्त्र में विवेक का एक विशेष-स्थान है, और इस विवेक के कारण ही उन विद्वानों एवं आलोचकों का ऐसा मत है। मनुष्य की भावना—उसकी आशा-निराशा, उसकी सत्-असत् की मीमांसा, स्वयम् से दर्शन-शास्त्र का विषय बन जाया करती है। जिसे हम भावना का उदात्तीकरण कहते हैं वह स्वयम् में ही दर्शन-शास्त्र का विषय है।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, साहित्य की सार्थकता, सक्षमता और सफलता मानव पर साहित्य के प्रभाव से मापी जा सकती है। वह साहित्य जो मनुष्य में विकृत भावनाओं को जगाता है या उभारता है, समाज द्वारा

स्वीकृत न होगा। पर ऐसा साहित्य कुछ लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं। समाज और व्यक्ति में हमेशा से एक प्रकार संघर्ष चलता रहता है। विकृतियाँ व्यक्तिगत हुआ करती हैं, गुणों को सामाजिक मान्यता मिलती है। कुछ लोगों की पसन्द के कारण वह विकृतियों का साहित्य समाज में स्वीकृत कर लिया जाय, इसके अर्थ तो सामाजिक अराजकता होंगे। यह विकृतियों का साहित्य समाज द्वारा अस्वीकृत ही नहीं होगा, दण्डनीय माना जायगा।

विकृतियों के साहित्य की रचना समय-समय पर प्रचुरता के साथ होती रहती है, पर यह विकृतियों का साहित्य एक तो समाज द्वारा दण्डनीय माना जाता है, और अगर समाज या राष्ट्र उस पर किन्हीं कारणों से ध्यान नहीं देते तो समय के साथ वह स्वतः नष्ट हो जाता है क्योंकि मनुष्य में गुण प्रकृति-रूप में विद्यमान है, विकार को कुछ थोड़े-से लोग थोड़े-से समय के लिए भले ही स्वीकार कर लें, अप्राकृतिक एवं अस्वाभाविक होने के कारण विकार नष्ट हो ही जायगा।

जिस साहित्य का जितना व्यापक प्रभाव होगा वह उतना ही महान् होगा, यह एक ऐसा सत्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दुनिया के साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग विशिष्ट वर्ग के लिए लिखा जाता है और उस विशिष्ट वर्ग द्वारा वह मान्य भी होता है। पर उसका व्यापक प्रभाव न होने के कारण उस साहित्य की गणना महान् साहित्य में नहीं होती।

और इसी समय एक प्रश्न मेरे सामने खड़ा हो जाता है—"वास्तव में अमरता की कोटि में पहुँचनेवाला महान् साहित्य इस विश्व में है ही कितना?" अधिकांश साहित्य समय की माँग को पूरा करने के लिए लिखा जाता है। शिक्षा प्रचार और प्रसार के इस युग में शुद्ध मनोरंजन के क्षेत्र में भी साहित्य अन्य कलाओं को पीछे छोड़ रहा है क्योंकि शुद्ध बौद्धिक होने के कारण 'शब्द' अपने को मनुष्य में अधिक से अधिक आरोपित करता जा रहा है। ऐसी हालत में साहित्य को महानता की परिधि में सीमित नहीं किया जा सकता, ज्ञान और बुद्धि का सामाजिक उपकरण होने के कारण उसका प्रचार और प्रसार हरेक दिशा में बढ़ेगा।

साहित्य के प्रचार और प्रसार की महत्ता उसके मानव-समाज पर प्रभाव के कारण है और इस प्रभाव का रूप साहित्य की उपयोगिता में

दिखता है। यह उपयोगिता सामाजिक इकाई है; जहाँ तक व्यक्ति का प्रश्न है, उपयोगिता की वहाँ कोई निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती। और इसी लिए कुछ समाजवादी विचारकों ने साहित्य की परख उपयोगितावाद के सामाजिक सिद्धान्तों के अनुसार की है।

साहित्य का परोक्ष-रूप अथवा सामाजिक-रूप क्या उपयोगितावाद के नियमों से बाँधा जा सकता है ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जिसे इन दिनों दुनिया में प्रगतिवाद कहा जाता है उसने साहित्य को उपयोगितावाद के नियमों से पूर्ण रूप से जकड़ने का भरपूर प्रयत्न किया है। इस प्रगतिवाद के सिद्धान्त को अधिकांश समाजवादी देशों में शासन-व्यवस्था की पूर्ण सहायता मिली है और मिल रही है। लेकिन इसमें प्रगतिवाद को केवल आंशिक सफलता ही मिल सकी है। प्रगतिवाद के प्रयत्नों के जो परिणाम हमारे सामने आए हैं उनसे उपयोगितावाद का सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो पाया है। फिर भी बौद्धिक दृष्टि से साहित्य के साथ उसका अनिवार्य सामाजिक पक्ष होने के कारण साहित्य को उपयोगितावाद के नियमों के अन्तर्गत तो आना ही पड़ेगा। ऐसी हालत में प्रगतिवादियों की उपयोगितावाद की परिभाषा में कहीं न कहीं कुछ भूल हो सकती है।

साहित्य की उपयोगिता क्या है ? सब से पहले हमें इस प्रश्न का उत्तर पाना पड़ेगा। साहित्य का क्षेत्र भावना है और साहित्य का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन है। सामाजिक रूप से यह भावना 'गुण' की कोटि की होनी चाहिये, 'विकृति' असामाजिक है। और साहित्य द्वारा जो मनोरंजन प्राप्त हो, वह सामाजिक नियमों की अवहेलना की प्रेरणा देने वाला न होना चाहिये। सामाजिक नियमों की रक्षा मानव की स्वाभाविक या सात्विक प्रवृत्ति ही करती है; और इसलिए यह मनोरंजक असात्विक न होना चाहिये। ऐसी हालत में वह प्रत्येक साहित्य जो मानव को सात्विक मनोरंजन प्रदान करे, वह समाज के लिए उपयोगी है—ऐसा मेरा मत है, क्योंकि इस साहित्य से मानव की सद् और कल्याणकारिणी प्रवृत्ति को सहायता मिलती है, और समाज स्वयम् मानव की सद् और कल्याणकारिणी प्रवृत्तियों पर कायम है।

पर प्रगतिवादी इस वैयक्तिक सुख और मनोरंजन को उपयोगितावाद के अन्तर्गत नहीं मानता क्योंकि वह इस वैयक्तिक सुख और मनोरंजन का कोई स्पष्ट तत्कालीन सामाजिक महत्त्व नहीं देखता। प्रगतिवाद तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को ही देखता है, और इस बात पर जोर देता है कि साहित्य को तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने में सहायक होना

चाहिये। तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने में निर्माण के साथ-साथ विनाश उतना ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। यही नहीं, रचना के पूर्व जिस विनाश की आवश्यकता होती है उसके प्रति जन को उत्तेजित करना प्रगतिवाद साहित्य का अंग समझता है, और इसलिए कहीं-कहीं क्रोध और हिंसा को प्रगतिवाद शान्ति और अहिंसा से अधिक महत्त्व देता है। जो विकृत है, अकल्याणकारी है उसे नष्ट करना समाज का धर्म है। युद्ध, रक्तपात, हिंसा, क्रोध, घृणा – इनके बल पर ही समाज अनादिकाल से अनाचार, अत्याचार, शोषण और उत्पीड़न को नष्ट करता रहा है। यह हिंसा, घृणा, क्रोध—ये मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ नहीं हैं—इतना हम सब जानते हैं, यह प्रतिक्रियात्मक विकृतियाँ हैं। पर व्यक्ति की इकाई को अस्वीकार करने वाला प्रगतिवादी इन विकारों को मानव के प्रेम, दया, शान्ति के समकक्ष सामाजिक प्रवृत्तियाँ मानता है, वर्जित विकृतियाँ नहीं मानता; और इसीलिए प्रगतिवाद व्यक्ति के मनोरंजन की सात्विकता के पक्ष को अस्वीकार करता है।

मानव का एक चेतन तत्त्व भी है—समाज से परे; प्रगतिवाद को यह बात स्वीकार नहीं है; वह तो मानव के भौतिक तत्त्व को ही जानता है क्योंकि यही भौतिक-तत्त्व मानव का सामाजिक तत्त्व है। स्वभावतः प्रगतिवाद का उपयोगितावाद विज्ञान और समाज-शास्त्र के अनरूप मानव के भौतिक विकास में सीमित है। सामाजिक विकास को प्रगतिवादी भौतिक विकास के रूप में ही देखता है और अनादिकाल से मानव के भौतिक विकास का साधन रहा है संघर्ष और युद्ध। इसलिए जिसे हम सात्विकता कहते हैं वह प्रगतिवाद की दृष्टि में अनुपयोगी है। यही नहीं, यह सात्विकता कभी-कभी अकर्मण्यता से युक्त समाज का विरोधी तत्त्व होने के कारण समाज के लिए हानिप्रद भी है।

प्रगतिवाद की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह कल्याणकारिणी सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास में व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, जब कि सत्य यह है कि समाज की रचना ही व्यक्ति की रचनात्मक और कल्याणकारिणी प्रवृत्तियों के कारण हुई है। आखिर समाज का संचालन व्यक्ति ही तो करते हैं, और समाज का संचालन करने वाले कुछ इने-गिने व्यक्ति अपनी मान्यताओं को समाज पर आरोपित करते हैं। यह जितना ज्ञान-विज्ञान का विकास है, यह व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों के परिणाम के कारण है, और समाज में समस्त व्यक्तियों की प्रवृत्तियाँ संग्रहीत होती जाती हैं।

जिसे परम्परा के अनुसार मानव की भावना कहा जाता है उसे प्रगतिवाद समाज की प्रवृत्ति मानता है। प्रगतिवाद इन प्रवृत्तियों में सद् और असद् के वर्गीकरण को उतना अधिक महत्त्व नहीं देता जितना परम्परा के अनुसार व्यक्ति की भावना के सम्बन्ध में दिया जाता है। प्रगतिवाद में वर्ग-संघर्ष और भौतिक-संघर्ष को ही प्रमुखता मिलती है। पर यह वर्ग-संघर्ष और भौतिक-संघर्ष उसी हालत में सामाजिक चेतना बन सकते हैं जब यह संघर्ष वैयक्तिक चेतना बनें, यह सत्य धीरे-धीरे प्रगतिवाद के प्रवर्तकों तथा उसके अनुयायियों पर प्रकट होने लगा है। प्रगतिवादी देशों में मानव की भावना को आधारमूल साध्य न मानते हुए आधारमूल साधन तो माना गया है, और इसी लिए समाजवादी देशों में शासन द्वारा साहित्य को दूसरे देशों की अपेक्षा प्राथमिकता दी गयी है। इस दिशा में समाजवादी देशों में साहित्य की मान्यताओं में भी परिवर्तन हुए हैं।

साहित्य का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है, समाज तो अनिश्चित और परिभाषाहीन संज्ञा है। और इसलिए उपयोगितावाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि साहित्य को व्यक्ति के विकास में सहायक होना चाहिये। मानव का विकास दो दिशाओं में होता है—एक तो मानव-द्वारा प्रकृति पर विजय पाने की दिशा में और दूसरे मानव द्वारा स्वयम् अपने विकारों पर विजय-पाने की दिशा में। जहाँ तक प्रकृति पर विजय पाने का प्रश्न है, वहाँ वह अपनी बुद्धि का सहारा लेता है और बुद्धि का क्षेत्र है ज्ञान-विज्ञान। स्वयम् अपनी विकृतियों पर विजय पाने में भावना का सहारा लिया जाता है और भावना का क्षेत्र है कला। पर बुद्धि मानव में सर्वव्यापी है इसलिए स्वयम् भावना बुद्धि द्वारा शासित होती है। भावना का बौद्धिक या वैज्ञानिक क्षेत्र है समाज-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, दर्शन शास्त्र आदि जो सब के सब तर्क पर आश्रित हैं; भावना का अनुभूति वाला क्षेत्र साहित्य और कला है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जितना तर्क और ज्ञान है, वह सब का सब भौतिक क्षेत्र से सम्बद्ध है। चेतन मानव के विकार में अनुभूति ही सर्व प्रथम आती है। संवेदना इसी अनुभूति का अंग है।

यह जितने सामाजिक शास्त्र हैं—दर्शन, मनोविज्ञान, धर्म आदि तथा विज्ञान, यह सब साहित्य के अन्तर्गत आ सकते हैं और साहित्य को सशक्त एवं प्राणवान् बनाने में सहायक हो सकते हैं तथा होते भी हैं, पर यह ज्ञान-विज्ञान साहित्य का अभिन्न अंग नहीं है, यह मेरा मत है। मानव

जीवन अविभाजित इकाई है इसलिए समस्त ज्ञान-विज्ञान स्वतः बौद्धिक और विकासोन्मुख मानव का अविलग और अभिन्न भाग बन चुका है। हम अपने ज्ञान को और अपनी बुद्धि को अपने से अलग कैसे रख सकते हैं ? पर इस सब के बाद भी मुझे तो यही कहना पड़ता है कि साहित्य में अनुभूति और भावना प्रधान हैं। सामाजिक शास्त्र अथवा विज्ञान की बौद्धिकता जहाँ साहित्य में भावना तथा अनुभूति पर अपने को आरोपित कर देते हैं वहीं साहित्य की सार्थकता नष्ट हो जाती है और वह निष्प्राण तथा प्रभावहीन हो जाता है।

सामाजिक शास्त्र एवं विज्ञान साहित्य में उपकरण अथवा साधन भर ही रह सकते हैं, इन्हें साध्य बनाने की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। और यहीं मेरा प्रगतिवाद से सब से बड़ा मतभेद है। मैं इसे प्रगतिवाद की सब से बड़ी कमजोरी समझता हूँ कि वह विज्ञान एवं अन्य सामाजिक शास्त्रों को साध्य समझता है। यही नहीं, सामाजिक शास्त्रों में अर्थ-व्यवस्था को वह सब से अधिक प्रमुखता देता है। भावना की अनुभूति और उस अनुभूति वाला आनन्द अथवा मनोरंजन प्रगतिवाद में केवल साधन माने जाते हैं।

पर अन्ततोगत्वा जीवन अक्षुण्ण और अविभाजित संज्ञा है, मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ। मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा जीवन के न जाने कितने विभाजन भले ही कर ले, पर जीवन के यह अनगिनती खण्ड एक दूसरे के पूरक हैं। यही नहीं, कहीं-कहीं तो यह विभाजक बड़े अस्वाभाविक दिखने लगते हैं और हमें भ्रम में डाल देते हैं।

साधन और साध्य का विभाजन बहिर्दृष्टि से स्वाभाविक भले ही लगे, और सामाजिक दृष्टि से यह साधन और साध्य वाली समस्या भले ही वास्तविक मानी जाय लेकिन जहाँ तक व्यक्ति का प्रश्न है, उसके लिए यह साधन और साध्य एक रूप होते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए, जहाँ तक कलाकार अथवा साहित्यकार का प्रश्न है, उसके लिए यह साधन और साध्य की समस्या एक प्रकार से मौजूद ही नहीं है। उसके अन्दर कला एक प्रवृत्ति मात्र है, और कलाकार या साहित्यकार का धर्म है अपनी प्रवृत्ति को प्रस्फुटित करना। कला अशरीर अथवा आधारहीन तो नहीं है भावना को व्यक्त करने के लिए कोई न कोई माध्यम चाहिये। व्यक्ति-कलाकार को अपनी भावना को प्रस्फुटित करने के लिए जिन वैयक्तिक मान्यताओं को साधन के रूप में अपनाना पड़ता है,

वही समाज के लिए साध्य बन जाते हैं। और इसलिए साहित्यकार जिस किसी समस्या को अपना साधन बनाता है, समाज के लिए वही समस्या साध्य बन सकती है क्योंकि वह समस्या अपने सबल और प्रभावशाली मनोरंजन-पक्ष के कारण सामाजिक सत्य बन जाती है।

जिसे हम औद्योगिक कला (Commercial Art कहते हैं उसकी जड़ें उपरोक्त सत्य में ही हैं। कुछ थोड़े से सृजनात्मक साहित्य को छोड़ कर दुनिया का अधिकांश साहित्य समय की माँग को पूरा करने के लिए लिखा जाता है। यह समय की माँग केवल समाज की माँग है (यहाँ समाज को मैं उसके व्यापक और सीमित—दोनों ही क्षेत्रों में लेता हूँ) और समाज की माँग होने के कारण अस्थायी माँग है क्योंकि समाज का रूप और उसकी मान्यताएँ, यह निरन्तर बदलते रहते हैं। जो नहीं बदलता, वह है मानव की आदि प्रवृत्ति – मानव की कल्याणकारी भावना।

यह जो दूसरों की माँग को पूरी करने वाली कला है, एक विशिष्ट वर्ग में उसे हीन समझने का आजकल एक फैशन-सा हो गया है। पर विश्व की अधिकांश कला का स्रोत ही दूसरों की मांगों में रहा है। जिसे हम "केवल स्वान्तः सुखाय" साहित्य कहते हैं—जैसे तुलसीदास ने राम चरित मानस को "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा" घोषित किया है—वह तो केवल कुछ साधकों का क्षेत्र रहा है, और उस स्वान्तः सुखाय साहित्य में बहुत थोड़ा ऐसा है जो उच्च कला की परिभाषा में आ सकता हो क्योंकि उस साहित्य में परोक्ष अथवा सामाजिक रूप का अभाव रहता है। फिर भी यह सत्य है कि वह बहुत थोड़ा जो विशुद्ध स्वान्तः सुखाय लिखा गया है, सबसे अधिक समर्थ और सक्षम रहा है क्योंकि वह कलाकार की सद् आस्था पर आधारित होने के कारण समाज की माँग तो पूरी नहीं करता, बल्कि सबल कला की सहायता से समाज को मार्ग दिखलाता है। इस प्रकार के साहित्य का रचयिता मार्ग-दर्शक और युग-निर्माता कहा जाता है।

कलाओं में केवल साहित्य ऐसा है जिसका उद्देश्य मात्र आजीविका नहीं होता, वह इस कारण कि बौद्धिक होने के कारण साहित्य में युग-निर्माण और विचार-नेतृत्व की क्षमता है। सबल साहित्य वह है जो दूसरों की रुचि पूर्ति करने के स्थान पर दूसरों में अपने प्रति रुचि पैदा करे। और इसी लिए साहित्य समस्त दर्शन और विज्ञान के ऊपर रहता

है क्योंकि साहित्य उस भावना पर शासन करता है जिससे विज्ञान और दर्शन की सृष्टि होती है।

जो कुछ भी मैंने कहा है उससे यह बात तो स्पष्ट ही है कि साहित्य की सफलता अथवा असफलता, साहित्य की सार्थकता अथवा निरर्थकता की परख उसके समाज के ऊपर प्रभाव से ही की जा सकती है। साहित्य आजीविका प्रदान कर सकता है या नहीं प्रदान कर सकता है, इससे साहित्य की महानता भले ही न मापी जा सके, पर इससे इस निर्णय पर अवश्य पहुँचा जा सकता है कि वह साहित्य समाज को ग्राह्य है या नहीं है।

पाँचवाँ परिच्छेद

यथार्थवाद और आदर्शवाद

यथार्थ वह है जो हमारे सामने है, जो मानव के अस्तित्व का सत्य है।

आदर्श वह है जो हमारे सामने वाली चीजों में हितकर और सद् के रूप में स्वीकार किया जाता है। उसे हम मानवता का सत्य कह सकते हैं क्योंकि वह अस्तित्व के विकास का सत्य है।

आदर्श यथार्थ का ही एक भाग है जिसकी कोई स्पष्ट परिभाषा अभी तक नहीं की जा सकी है। यथार्थ का विभाजन करके ही हम आदर्श को अलग कर सकते हैं। यह विभाजन भी आसान काम नहीं है। उलझी हुई सामाजिक मान्यताओं में यथार्थ का विभाजन व्यक्ति की प्रवृत्ति—अर्थात् विभाजन करने वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति पर ही निर्भर होगा। ऐसी हालत में आदर्श सामाजिक संज्ञा होते हुए भी उसका रूप वैयक्तिक मान्यताओं के अनुसार ही बना करता है।

विश्लेषण करना और वर्गीकरण करना बौद्धिक मानव की भौतिक प्रवृत्ति है। भौतिक होने के नाते यह प्रवृत्ति ज्ञान के अन्तर्गत आती है जो भौतिक जगत् से सम्बद्ध है। जहाँ तक भावनात्मक और अनुभूति से युक्त मानव का प्रश्न है, वहाँ मैं जीवन को एक अविभाजित इकाई के रूप में ही मान सका हूँ। पर मुझे यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि समाज स्वयम् में ही भौतिक तत्व है और इसलिए एक सामाजिक प्राणी के नाते हमें हर कदम पर जीवन और अस्तित्व का वर्गीकरण करना पड़ता है और इस वर्गीकरण के आधार पर निष्कर्ष निकालने पड़ते हैं।

हम जो कुछ भी कहते या करते हैं, उसका मूल्यांकन समाज अपनी निर्धारित मान्यताओं के अनुसार ही करेगा। समाज द्वारा मान्य हों, इस उद्देश्य से हम अपने कर्म को या अपनी बात को समाज की प्रचलित मन्यताओं के अनुसार रूप भी देते हैं। मानव की इस प्रवृत्ति में ही उस आदर्शवाद का बीज है जो साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुका है।

आदर्शवाद को साहित्य में महत्व इसलिए मिला कि आदर्शवाद में 'सुन्दर' का पर्यायी होने के अवयव मानव को आसानी से दिख जाते हैं,

और मानव की यह प्रवृत्ति है कि वह सुन्दरता द्वारा ही अपना मनोरंजन प्राप्त करता है।

मतभेद इसमें हो सकता है कि 'सुन्दर' की परिभाषा क्या है? जहाँ तक मेरा मत है, हम जिसके अभ्यस्त हैं या हम जो कुछ भी चाहते हैं वह सब सुन्दर है। सुन्दरता को मैं मानव का गुण मानता हूँ। और इसलिए सुन्दरता को कुरूपता से पृथक् करने के लिए मुझे कुरूपता की परिभाषा करनी पड़ेगी।

कुरूपता मानव की विकृति है जो मानव-समाज के लिए अहितकर है। मानव-समाज के लिए क्या हितकर है और क्या अहितकर है, यह स्वयम् मतभेद का विषय हो सकता है लेकिन इतना सत्य है कि जो अहितकर है उसके प्रति सामाजिक वितृष्णा स्पष्ट रूप में दिखती है। कुरूपता द्वारा मनोरंजन कुछ इने-गिने लोगों को और कुछ थोड़े-से समय के लिए भले ही प्राप्त हो जाय, लेकिन सामाजिक काल और प्रसार इस कुरूपता को वितृष्णा की ही चीज घोषित करेगा। और सुन्दर वही है जो मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जो प्रतिक्रियात्मक विकृति हरेक मनुष्य में स्थित है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हुए हमने उसे कुरूपता का नाम दे दिया है।

जीवन स्वयम् में एक इकाई होने के कारण, इस जीवन में गुण और विकृति, सुन्दर और कुरूप समान भाव से स्थित हैं। यह गुण और विकृति तथा सुन्दर और कुरूप सामाजिक वर्गीकरण हैं और इसलिए साहित्य का परोक्ष अथवा सामाजिक रूप इस सुन्दर और असुन्दर से बुरी तरह उलझा हुआ है।

'सुन्दर' शब्द में 'शिव' और सत्य की मान्यता को भी मैं निहित समझता हूँ। जो सत्य नहीं है वह कल्याणकारी नहीं है; जो कल्याणकारी नहीं है वह सुन्दर नहीं हो सकता।

'सुन्दरता' की धारणा सामाजिक धारणा है और यह धारणा हमें सामाजिक मान्यताओं द्वारा प्राप्त होती है। सामाजिक मान्यता स्वयम् में एक अक्षुण्ण इकाई है और इसलिए समाज की सुन्दरता से सम्बन्धित मान्यता में सत्य और शिव के तत्त्व गुँथे हुए हैं। वैसे ऊपरी दृष्टि से कभी-कभी यह दिख सकता है कि सुन्दर और शिव या सुन्दर और सत्य विरोधी तत्त्व हैं, लेकिन यह केवल दृष्टि-भ्रम ही होगा जिसमें अपवाद की प्रमुखता रहती है, नियम प्रतिक्रियात्मक विकृतियों के आवरण में ढक जाता है। सामाजिक रूप से सुन्दर वही है जो कल्याणकारी है और

कल्याणकारी वह है जो सत्य है। यह सत्य मानव की स्वाभाविक और क्रियाशील प्रवृत्ति है। इसी कारण से विद्वानों में साहित्य को "सत्यं, शिवं सुन्दरं" की परिभाषा में बाँधने की प्रथा-सी चल पड़ी है।

आदर्शवाद इसी सत्य, शिव और सुन्दर के तत्वों को लेकर आगे बढ़ता है और इसी सत्य, शिव और सुन्दर में आदर्शवाद का बल है।

दुनिया का अधिकांश साहित्य आदर्शवाद को लेकर आगे बढ़ा है। बौद्धिक और चेतन मानव सत्य, शिव और सुन्दर में ही मानव-समाज का अस्तित्व और विकास देखता है। इसी लिए विद्वानों और आचार्यों ने भी साहित्य को सात्विकता का प्रतीक मान कर साहित्य में आदर्शवाद को प्रमुखता दी है।

आदर्शवाद 'जो है' उसे सत्य न मानकर 'जो होना चाहिये' इसे सत्य मानता है और यहीं आदर्शवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है। आदर्शवाद एक दृष्टिकोण है जो सामाजिक मान्यताओं द्वारा आरोपित है और उस दृष्टिकोण में जीवन की वास्तविकता के कुरूप पहलू को कोई स्थान नहीं है। 'जो होना चाहिये' वह मनुष्य और समाज में मौजूद है, पर वह आसानी से पहचाना नहीं जा सकता क्योंकि उसके साथ-साथ अभिन्न रूप में जीवन में वह भी है जो नहीं होना चाहिये। आदर्शवाद में 'जो होना चाहिए' उसे 'जो न होना चाहिए' इससे पृथक् करके यह प्रतिपादित किया जाता है कि 'जो न होना चाहिए' वह त्याज्य ही नहीं वरन् दण्डनीय भी है।

'भय और दण्ड' ये अविकसित मानव समाज की व्यवस्थाएँ हैं और इसी अविकसित मानव-समाज की मान्यता आदर्शवाद है। आदर्शवाद का बल मानव का विश्वास है—मेरा प्रयोजन समाज द्वारा आरोपित उस विश्वास से है जिसमें तर्क का कोई स्थान नहीं और वह दण्ड एवं भय के आधार पर स्थापित है और इसी लिए विकसित बुद्धि ने उसे अंध विश्वास का नाम दे दिया है।

आदर्शवाद में 'आरोपन' तत्त्व संवेदन तत्त्व को ढक लेता है, और इसलिए आदर्शवाद मन पर उतना अधिक प्रभाव नहीं डाल सकता जितना अपेक्षित है।

साहित्य वह महान् है जो आरोपित नहीं करता वरन् जिससे ग्रहण किया जाता है क्योंकि आरोपन में व्यवस्था की विवशता है और ग्रहण करने में स्वेच्छा की स्वतन्त्रता है। जो आरोपित करता है उसे हम उपदेश

कह सकते हैं, उसे साहित्य तो नहीं कहा जा सकता। आदर्शवाद में जो आरोपित करने की प्रवृत्ति है वही आदर्शवाद को निर्बल बना देती है।

'यथार्थवाद' शब्द अपेक्षाकृत नया है। कम से कम प्राचीन भारतीय साहित्य में तो आदर्शवाद और यथार्थवाद का कोई ऐसा स्पष्ट वर्गीकरण नहीं मिलता जिसमें साहित्य को विभक्त किया जा सके। वैसे आदर्श के प्रति आस्था प्राचीन साहित्यकारों में हमेशा से रही है। आदि कवि बाल्मीकि ने 'रामायण' नामक महाकाव्य की रचना ही आदर्श पुरुष को राम के रूप में उपस्थित करने के लिए की है। पर बाल्मीकि ने रामायण को आदर्शवाद का ग्रन्थ नहीं घोषित किया। 'महाभारत' में तो घोर यथार्थवाद मौजूद है यद्यपि उस यथार्थ के साथ-साथ आदर्श को लेकर महाभारतकार बढ़ा है। दान्ते के ला इन्फर्नो और मिल्टन के पैराडाइज़् लास्ट तथा पैराडाइज़् रिगेण्ड तथा शेक्सपियर के हैम्स्लेट और मैकबेथ में आदर्शवाद प्रचुरता के साथ मौजूद है। पर शेक्सपियर और मिल्टन के समय तक आदर्शवाद और यथार्थवाद का झगड़ा नहीं था। कविता लय के आधार पर भावना का सृजन करती है और इसलिए कविता आदर्शवाद तथा यथार्थवाद के वर्गों में विभाजित नहीं की गयी। आदर्शवाद और यथार्थवाद का वर्गीकरण कहानी के विकास के फलस्वरूप पैदा हुआ और विश्व-साहित्य में यथार्थवाद का प्रथम कलाकार माना जाता है फ्रांस का बालज़ाक।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मनुष्य के बौद्धिक विकास के साथ कहानी विकसित हो पायी है और उन्नीसवीं शती के मध्य में फ्रांस में यथार्थवाद के नाम पर जो साहित्य लिखा गया उसमें मानव समाज ने साहित्य की प्रचलित मान्यताओं से भी पृथक् कोई नई चीज देखी। रूढ़िग्रस्त मानताओं पर आधारित जो साहित्य लिखा जा रहा था उससे लोग ऊब से गए थे और तत्काल इस नवीन कोटि के साहित्य का स्वागत भी हुआ। पर इस नवीन प्रकार के साहित्य में प्राण है तथा यह साहित्य साहित्यिक मान्यताओं को ही बदल देगा, यह लोगों ने न सोचा था। उस समय तक साहित्य अतिशयोक्ति द्वारा विरोधाभास का सहारा लेकर अपना बल प्राप्त करता रहा था, पर इस नवीन प्रकार के साहित्य में जीवन को जैसा है वैसा चित्रित करके इस अतिशयोक्ति और उसके विरोधाभास को हरण कर लिया गया था। साहित्य में इस नवीन धारा के प्रवेश करने का कारण रहा है मनुष्य का बौद्धिक विकास। बौद्धिक रूप से विकसित मानव

अतिशयोक्ति को छोड़ता चला जाता है; सत्य और वास्तविकता को ही वह देखता है। इसी सत्य और वास्तविकता पर यथार्थवाद की नींव है।

पर विकृति और कुरूपता सत्य और वास्तविकता का आवश्यक अंग नहीं है, हमें यह ध्यान में रखना पड़ेगा। यथार्थवाद के नाम पर विकृतियों को आरोपित करने की एक प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक रूप में आ जाती है जो साहित्य और कला की सुन्दरता को नष्ट कर देती है। विकृति हमारे जीवन में मौजूद है, इससे तो किसी हालत में इनकार नहीं किया जा सकता, पर इस विकृति को हम सुन्दर नहीं कह सकते, स्वाभाविक भले ही कह लें। आदर्शवाद में भी मानव की विकृति को स्वीकार किया जाता है, पर उस विकृति को अतिशयोक्ति द्वारा चरित्र-विशेष में केन्द्रित करके उस व्यक्ति के प्रति मानव में घृणा उत्पन्न की जाती है।

विकृतियों के प्रति संवेदन और विकृतियों से ग्रसित मानव के प्रति संवेदन में अन्तर होता है। आदर्शवाद संवेदन के तत्त्व को स्वीकार नहीं करता जहाँ तक विकृति या विकृति से ग्रस्त मानव का प्रश्न है। विकृतियों के प्रति संवेदन असामाजिकता को जन्म देना होता है क्योंकि इस संवेदन से मनुष्य में विकृति को स्वाभाविक समझ कर उसके प्रति वितृष्णा के स्थान पर एक प्रकार की उदासीनता ही हो सकती है। इसलिए विकृतियों के प्रति संवेदन यथार्थवाद में भी वर्जित है। आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल अन्तर पड़ता है विकृतियों से ग्रस्त मानव के प्रति दृष्टिकोण में। आदर्शवाद में विकृतियों से ग्रस्त मनुष्य को विकृति का प्रतीक मानकर उसके प्रति घृणा उत्पन्न करने की परिपाटी है जहाँ यथार्थवाद में विकृतियों से ग्रस्त मनुष्य को हम दया तथा संवेदना का पात्र समझने लगते हैं। आदर्शवाद का आधार घृणा पर है, यथार्थवाद का आधार करुणा पर है—जहाँ तक मानव-तत्त्व का प्रश्न है। विकृति के प्रति वितृष्णा तथा घृणा होते हुए भी विकृति से ग्रस्त मनुष्य के प्रति दया और करुणा का भाव उत्पन्न करना आदर्शवाद का लक्ष्य है।

हममें दूसरों के दोष देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, अपने दोष के प्रति हम सब अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। कारण है कि हम दोष को देखने के स्थान पर हमेशा दोष के पात्र को ही देखते हैं। और यह इसलिए कि हम दोष और पात्र को एक-दूसरे से अलग नहीं कर पाते। यह जो प्राचीन आदर्शवादी साहित्य में खलनायक की परम्परा है वह इसी लिए कि खल और खलता को एक रूप में देखने की हमारी प्रवृत्ति है। यथार्थवाद खलता, दोष या विकृति को व्यक्ति से अलग करके देखता है।

जिस समय खलता, दोष या विकृति को व्यक्ति से पृथक् कर दिया गया उसी समय पाठक विकृति के रूप को पहचानने लगता है, वह विकृति चाहे पराए में हो, चाहे अपने में हो।

दुनिया भर में परनिन्दा की एक प्रवृत्ति नजर आती है। इस परनिन्दा की प्रवृत्ति में हम स्पष्ट देखते हैं कि लोग व्यक्ति की निन्दा करते हैं, उस व्यक्ति के कर्म की निन्दा नहीं करते। यदि मनुष्य का ध्यान कर्म पर चला जाय तो परनिन्दा की कटुता बहुत अधिक कम हो जाय क्योंकि वह कर्म जिसके कारण व्यक्ति की निन्दा की जाती है, हम सब लोगों में आंशिक भाव से मौजूद मिलेगा। परनिन्दा में प्राय: यह भी देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के जिस काम के कारण निन्दा की जाती है उसके प्रति एक प्रकार का मोह निन्दा करने वाले के मन में होता है। उदाहरण के रूप में हम एक ऐसे आदमी को लें जो बेईमानी से लखपती या करोड़पती बन जाय। उस लखपती या करोड़पती कि निन्दा लोग प्राय: इसलिए करते हैं कि वह स्वयम् अपनी बेईमानी से लखपती या करोड़पती नहीं बन पाए।

यथार्थवाद में मानव की इस मनोवैज्ञानिक कमजोरी का हल है। यथार्थवाद वैज्ञानिक है और इसलिए यथार्थवाद की सफलता मनुष्य के बौद्धिक विकास पर निर्भर है। वैज्ञानिक तथा बौद्धिक होने के कारण यथार्थवाद के अन्तर्गत कहानियों और उपन्यासों में अनेक भेद और प्रकार विकसित हुए हैं जिन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न आगे के अध्यायों में मैं करूँगा। इस स्थान पर तो मैं यथार्थवाद की सही-सही परिभाषा करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

यथार्थवाद के नाम पर बहुत कुछ ऐसा लिखा जा रहा है जो यथार्थ तो है पर जिसे साहित्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें कला पक्ष का सर्वथा अभाव है। मुझे तो यहाँ तक कहने में संकोच न होगा कि यथार्थ-वाद को आज का फैशन बनाकर उसे अनर्गलता का रूप दे दिया गया है। वैसे आज जो कुछ हो रहा है, कल जो कुछ हुआ और भविष्य में जो कुछ होने की हम कल्पना करते हैं, वह सब यथार्थवाद के अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि हम यथार्थ हैं, हमारा अस्तित्व यथार्थ है, हमारा कर्म यथार्थ है, हमारा विचार यथार्थ है। पर हर यथार्थ साहित्य नहीं है क्योंकि कला होने के नाते साहित्य असुन्दर तत्त्व से परे है।

आज यथार्थवाद को असुन्दर बनाने की एक प्रवृत्ति दुनिया में बुरी तरह फैल रही है। उस प्रवृत्ति को समझ लेने से ही हम वास्तविक

मान्यता को पा सकते हैं। यह जो जगह-जगह विकृतियों से ग्रस्त साहित्य का सृजन हो रहा है क्या वास्तव में यह यथार्थवादी कला है ? साधारण मनुष्य के सामने यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से आ जाता है।

साहित्य में एक चीज जो महत्त्वपूर्ण है, वह 'नवीनता' है। अन्य कलाओं में इस नवीनता को इतना अधिक महत्त्व नहीं है क्योंकि यह स्थायी नहीं होती। संगीत में कुछ इने-गिने राग अनादि काल से गाए जाते हैं, और उन्हीं रागों में प्राण भरने से हर आदमी कलाकार बन सकता है। यही हाल नृत्य-कला का है। पर साहित्य अमर है - न जाने कितने ग्रन्थ अभी तक लिखे जा चुके हैं। साहित्य के शब्द से सम्बद्ध होने के कारण साहित्य में बौद्धिक विकास एक आवश्यक अंग बन गया है। यह नवीनता साहित्य में दुर्लभ है। इस नवीनता का दूसरा नाम मौलिकता है और महान् साहित्य वह कहलाता है जो मौलिक होता है। यह भी निश्चित है कि बहुत कम ऐसा है जो मौलिक कहा जाता है या कहा जा सकता है। इने-गिने शब्द, भावनाओं के इने-गिने रूप, कहानियों के इने-गिने ढाँचे --सारा साहित्य इनमें केन्द्रित है। इनसे ऊपर उठकर एक नया रूप कोई गढ़ सके, नयी बात कोई कह सके—ऐसे साहित्यकार युग में एक या दो ही हो सकते हैं।

जो सत्य है, शिव है, सुन्दर है वह सब परम्परागत होने के कारण साहित्य में बेर-बेर अनेक रूपों में आ चुका है और आता रहता है। केवल असुन्दर, अकल्याणकारी और असद् ऐसा है जो असामाजिक होने के नाते मानव-समाज द्वारा वर्जित रहा है और इसलिए साहित्य में समाविष्ट नहीं हो सकता। फलतः यह असुन्दर विकृति ही नवीन है, और नवीनता के सृजन के नाम पर इस विकार-युक्त असुन्दर को यथार्थवाद का रूप मानने की एक परिपाटी भी साहित्य में प्रविष्ट हो चुकी है। यहीं पर वास्तविक कलाकार को सतर्क रहना पड़ेगा क्योंकि असुन्दर कला का विरोधी तत्त्व है। केवल नवीनता के नाम पर असुन्दर विकृति को तो समाज नहीं अपना सकता, कुछ थोड़े से लोग, कुछ थोड़े समय के लिए भले ही इस नवीनता के नाम पर लिखे गए विकृति-युक्त साहित्य को महत्त्व दे दें। समाज कभी भी इस प्रकार के साहित्य को स्वीकार न करेगा क्योंकि इस प्रकार के साहित्य में मानव-स्वभाव के विपरीत एवं विरोधी तत्त्व हैं।

यथार्थवाद सुन्दर और असुन्दर के मूलभूत भेद को स्वीकार नहीं करता—यही यथार्थवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है। जो सत्य और स्वाभाविक है उसमें सुन्दर और असुन्दर का भेद कैसा ? फिर सुन्दर और

असुन्दर का भेद सामाजिक मान्यताओं पर निर्भर है जो समय-समय पर बदलती रहती हैं। यथार्थवाद के उपर्युक्त तर्क बहुत अंश तक ठीक दिखते हैं। बदलती हुई सामाजिक परम्पराओं द्वारा निर्धारित सुन्दर और असुन्दर की परिभाषा स्थायी नहीं मानी जा सकती। समाज द्वारा निर्धारित सुन्दर और असुन्दर का रूप बदलता रहता है। राज दरबारों एवं देवालयों के वैभव से अलग होकर हम आज मजदूरों और किसानों की झोपड़ियों से सुन्दरता को देखने लगे हैं—यह बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं का उदाहरण ही है न! पर यहाँ यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि मानव की कुछ आधारमूल प्रवृत्तियाँ हैं और उनकी विरोधी प्रवृत्तियों का सृजन निश्चय ही असुन्दरता का सृजन है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि साहित्य में यथार्थवाद अपेक्षाकृत एक नवीन धारा के रूप में विकसित हो रहा है और इस यथार्थवाद के नित्य नवीन रूप प्रकट हो रहे हैं। आरम्भ में यथार्थवाद शब्द अतिशयोक्ति के विरोधाभास से मुक्त साहित्य के लिए ही प्रयुक्त हुआ। फिर धीरे-धीरे यथार्थवाद के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक कहानी का साहित्य आया जिसका उद्देश्य वैज्ञानिक ढंग से मानव की मनोभावना का विश्लेषण करके मानव और उसके कर्म में एक सीमा-रेखा स्थापित करना था। इस सीमा-रेखा की स्थापना से मनुष्य संवेदन का केन्द्र हो जाता है क्योंकि हम मनुष्य के कर्म के रूप को समझने लगते हैं—मनुष्य की विवशता, मनुष्य की अक्षमता—यह सब हमारे सामने आ जाते हैं। यथार्थवाद की यह धारा सब से अधिक सक्षम और समर्थ धारा थी जिसके कारण आदर्शवाद के विकास को एक गहरा धक्का लगा। पर आगे चल कर यथार्थवाद की इसी धारा ने विकृतियों को जन्म दिया। यथार्थवादी साहित्यकार इस धारा को अपना कर अपनी विकृतियों को ही समाज पर आरोपित करने लगा।

आखिर साहित्य, साहित्यकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही तो है। इस व्यक्तित्व में गुण और विकार दोनों ही मिलते हैं। गुण को सामाजिक संज्ञा माना गया है, विकार वैयक्तिक होते हुए भी असामाजिक माना जाता है। जिस समय हम गुण और विकार का भेद हटा कर सामाजिक मान्यताओं को तिलांजलि देने पर कटिबद्ध हो जाते हैं उस समय हममें गुण को छोड़ कर अपने अन्दर वाले विकार को प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति जाग पड़ती है। और इसीलिए यथार्थवाद के नाम पर विकृतियों का साहित्य प्रचुरता के साथ लिखा जाने लगा।

वैयक्तिक विकृतियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में वह विकृतियाँ आती हैं जो स्पष्ट रूप से समाज विरोधी हैं, और दूसरी वे जो शुद्ध-रूप से वैयक्तिक हैं। यह दूसरे प्रकार की विकृतियाँ परोक्ष-रूप से समाज-विरोधी बन सकती हैं पर यह विकृतियाँ उसका ही अहित करती हैं जिनमें यह हैं।

साहित्य में जो विकृति सर्व-प्रथम आती है और जो निश्चय-रूप से समाज-विरोधी है, वह यौन सम्बन्धी विकृति है। विवाह-बन्धन को तोड़ना खुल्लम-खुल्ला व्यभिचार, यह एक यौन-सम्बन्धी वे विकृतियाँ हैं जो अधिकांश लोगों में पायी जाती हैं। पर समाज के सुचारु संचालन में यह विकृतियाँ बाधक होती हैं और इसी लिए मानव-समाज इन विकृतियों के प्रति सतर्क रहता है। यौन-विकृतियों पर साहित्य की प्रचुरमात्रा में सृष्टि हुई है और इन विकृतियों पर साहित्य का कुछ भाग दण्डनीय भी माना गया है।

यौन-विकृतियों का साहित्य दो दृष्टिकोणों से लिखा गया है, जिसका उल्लेख कर देना अनुचित न होगा क्योंकि इन दो दृष्टिकोणों को समझ कर ही इस प्रकार के साहित्य का सही मूल्यांकन किया जा सकता है। इसमें पहला दृष्टिकोण आर्थिक है। अश्लील और गन्दे साहित्य के प्रति कच्ची उम्र के युवकों-युवतियों में एक प्रकार का मोह रहता है और इसलिए इस प्रकार के साहित्य से प्रचुरमात्रा में धन उपार्जित किया जा सकता है। बहुत से लेखकों ने केवल पैसा पैदा करने के लिए इस प्रकार के साहित्य की रचना की है। यह सच है कि इन लेखकों के व्यक्तित्व में भी इस प्रकार की विकृति मौजूद है, लेकिन अधिकांश मनुष्य विकृतियाँ रहते हुए भी उन विकृत्तियों का प्रदर्शन नहीं करते क्योंकि वह उन विकृतियों को विकृति मानते हैं और उन्हें छिपाते हैं। इस यौन-विकृति को लेकर साहित्य की रचना करने वाला साहित्यकार उन विकृतियों को विकृति मानते हुए उनका प्रदर्शन करता है। इस प्रदर्शन में वह विकृति का समर्थन नहीं करता—वह तो विकृति को दण्डनीय भी घोषित कर देता है। पर प्रदर्शन से उसे धन मिलता है और इसलिए वह इस प्रकार के साहित्य की रचना करता है। इस प्रकार का साहित्य स्पष्ट-रूप से निम्नकोटि का साहित्य कहलाता है—लेखक भी यह जानता है। पर लेखक का उद्देश्य पैसा होता है, वह महान् और प्रभावशाली साहित्य के सृजन का दावा नहीं करता।

विकृतियों के साहित्य में खतरनाक दूसरी कोटि का साहित्य है। यह

दूसरा दृष्टिकोण विकृति को विकृति नहीं मानता, असुन्दर नहीं मानता। इस प्रकार के साहित्य का रचयिता विकृतियों को स्वाभाविक मानकर कला की सहायता से उन्हें सुन्दरता के आवरण से ढक देता है। उस विकृति के पीछे कलाकार का व्यक्तित्व रहता है, उसके विश्वास का बल रहता है। यहाँ स्पष्ट-रूप से कलाकार का उद्देश्य आर्थिक लाभ उतना अधिक नहीं रहता जितना अपने विश्वासों और अपनी मान्यताओं का समाज पर आरोपित करने का प्रयत्न रहता है। यथार्थवाद के नाम पर सबल और सशक्त कलाकार द्वारा विकृतियों का आरोपण समाज के लिए काफी खतरनाक साबित हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के साहित्य पर शासन द्वारा कानून बना कर कोई रोक नहीं लगाई जा सकती जबकि प्रथम कोटि के साहित्य पर रोक लगाना सम्भव है। इस दूसरे दृष्टिकोण के साहित्य पर केवल सामाजिक चेतना ही अपना प्रतिबन्ध लगा सकती है।

समाज विरोधी विकृति के बाद दूसरा स्थान मनुष्य के अन्दर वाली स्वाभाविक और समाज से असम्बद्ध विकृति का आता है। इस विकृति को यदि हम प्रवृत्ति का नाम दे सकें तो अधिक अच्छा होगा।

हम सब अधिकांश-रूप में असम्बद्ध और विच्छृङ्खल ढङ्ग से सोचते हैं और काम करते हैं। साधारण मनुष्य जब कभी एकान्त में बैठकर सोचता है तो दस-पाँच मिनट में ही सैंकड़ों विचार उसके मन में आकर निकल जाते हैं जिनमें कोई तारतम्य नहीं, जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता। दस-पाँच आदमी जब कभी सामाजिक ढङ्ग से एक स्थान पर बैठ कर बातें करते हैं उस समय भी वह न जाने कितने विषयों पर जो एक-दूसरे से बिल्कुल असम्बद्ध हैं, बातें करते हैं। मेरा तो कुछ ऐसा अनुभव है कि शृंखलाबद्ध सोचना, बात करना या काम करना—यह सब चेतन और विकसित मानव कुछ परिश्रम के साथ ही कर पाता है, स्वाभाविक रूप से उसका विचार और कर्म विशृङ्खल है। मानव की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति ने यथार्थवाद के नाम पर कला के क्षेत्र में प्रवेश किया और इसका प्रथम प्रदर्शन फ्रांस में चित्रकला में हुआ। यह जो Sur-Realism (अति-यथार्थवाद) दुनिया में फैला, उसकी जड़ें इसी प्रवृत्ति में हैं। और यही यथार्थवाद साहित्य में आरम्भ में प्रयोगवाद के नाम से प्रविष्ट हुआ यद्यपि बाद में इसके नाम बदलते गए हैं और आज भी बदलते रहते हैं। यह यथार्थवाद सबसे अधिक कविता में दिखता है क्योंकि कविता शुद्ध भावना की चीज होती है। लेकिन कहानी और उपन्यास

शृङ्खलाबद्ध होते हैं इसलिए इनमें प्रथमकोटि का (यौन-विकृतियों से युक्त) यथार्थवाद तो बड़ी आसानी से आ पाया, पर दूसरी कोटि के यथार्थवाद को अपने में सन्निहित करने के लिए इन्हें अपना रूप बदलना पड़ा। जिन्हें हम अंग्रेजी में स्केच और रिपोर्ताज कहते हैं, वे इस दूसरी कोटि के यथार्थवाद को ग्रहण करने के अच्छे माध्यम समझे गए और आज विश्व-साहित्य में उपन्यास और कहानी इन्हीं रिपोर्ताजों और स्केचों के विकसित रूपों में लिखे जा रहे हैं।

यहाँ हमें यह भी समझ लेना है कि यह विशृङ्खलता वैयक्तिक है, समाज की रचना शृङ्खलाबद्ध विचारों और कर्मों के आधार पर ही हो सकी है। प्रयोगवाद अथवा किसी भी नाम वाले नवीनधारा वाला साहित्य जो आज अधिकांश में लिखा जा रहा है, शुद्ध रूप से व्यक्तिगत है, जन-साधारण में इस प्रकार के साहित्य की माँग नहीं है और हो भी नहीं सकती। मनुष्य स्वयं चाहे जितने विशृङ्खल ढङ्ग से सोचे अथवा धर्म करे, दूसरों से वह शृङ्खलाबद्ध विचार और धर्म की ही अपेक्षा करता है।

श्रेष्ठ कला मानसिक सन्तुलन पर ही आधारित होती है क्योंकि यह मानसिक संतुलन सामाजिक अवयव है और साहित्य को ग्रहण करने वाला समाज होता है। जहाँ संतुलन का अभाव है वहाँ कला का मिलना असम्भव है। मैं यह मानता हूँ कि संतुलन की ठीक-ठीक परिभाषा नहीं की जा सकती, संतुलन के माप-दण्ड भी नहीं निर्धारित किये जा सकते। हमारी निर्धारित मान्यताओं के अनुसार कभी-कभी जो असन्तुलन दिखता है, वही वास्तव में उचित संतुलन हो सकता है क्योंकि समय और परिस्थिति के अनुसार समाज के न बदलने से समाज में असंतुलन आता रहता है, लेकिन उस असंतुलन को समाज संतुलन समझ कर उससे चिपका रहता है। संतुलन समझे जाने वाले उस असंतुलन को तोड़ कर वास्तविक संतुलन स्थापित करने वाले साहित्यकार, नेता, विचारक अथवा अन्य पुरुष आरम्भ में असंतुलन के पाप के भागी कहलाया करते हैं।

पर मैं पूछता हूँ कि इस प्रकार के मौलिक विचारक और द्रष्टा साहित्यकार युग में होते ही कितने हैं जो युग की धारा को मोड़ सकें? अधिकांश में साहित्यकार अन्य कलाकारों की भाँति भावना का व्यौपार करने वाले प्राणी होते हैं और भावना के व्यवसाय में साहित्यकारों को समाज की प्रचलित मान्यताओं का ही सहारा लेना पड़ता है। अपने को द्रष्टा अथवा समाज का नेता कहने वाला साहित्यकार दुनिया को धोखा देता है और अधिकांश में अपने को धोखा देता है।

यथार्थवाद की अपनी निजी सीमाएँ हैं। इन सीमाओं को तोड़ने वाला साहित्य सामाजिक मान्यता नहीं प्राप्त कर सकता, यह ध्रुव सत्य है। वैसे दुनिया में जो कुछ भी लिखा जाता है वह सब सत्य है, वह सब यथार्थ है; जो नहीं है उसकी हम कल्पना ही नहीं कर सकते क्योंकि कल्पना के अन्तर्गत जो कुछ आ सकता है वह सब हमारे सामने मौजूद है। पर हमारे सामने जितना सत्य और यथार्थ है वह सब का सब तो सुन्दर नहीं है। कला का उद्देश्य सुन्दरता का सृजन है, कुरूपता का सृजन नहीं है।

सुन्दरता और कुरूपता की मान्यताएँ समाज द्वारा निर्धारित की गयी हैं—यह मैं मानता हूँ, पर समाज ने यह मान्यताएँ व्यक्तियों से ही तो ग्रहण की हैं। व्यक्ति, समय और परिस्थिति के योग से समाज बनता है। समय और परिस्थिति परिवर्तनशील संज्ञाएँ हैं पर व्यक्ति अपरिवर्तनशील और अक्षुण्ण है। यहाँ मेरा प्रयोजन व्यक्ति के चेतन और भावनात्मक तत्त्व से है उसके शारीरिक अथवा भौतिक तत्त्व से नहीं है। साहित्य की कुरूपता अथवा सुन्दरता सामाजिक काल और परिस्थिति से ऊपर उठ कर व्यक्ति के अन्दर सुन्दरता और कुरूपता की अभिव्यक्ति करती है। कुरूपता से युक्त यथार्थवाद कुछ थोड़े से समय के लिए कुछ थोड़े से व्यक्तियों को भले ही प्रभावित कर सके, पर उसे मानव-समुदाय सदा के लिए किसी भी हालत में स्वीकार नहीं करेगा।

आदर्शवाद सामाजिक सत्य है, यथार्थवाद वैयक्तिक सत्य है। व्यक्ति के विकास के साथ विश्वास और प्रतिबन्ध से युक्त समाज की मान्यताएँ बदलती रहती हैं और इसलिए इस सामाजिक सत्य का रूप लगातार बदलता रहता है। 'राजा ईश्वर है' किसी समय यह एक बहुत बड़ा सामाजिक सत्य था। लेकिन आज यह सत्य लोप हो गया—राजतन्त्र टूटते गए और उनका स्थान जनतन्त्रों ने ले लिया है। 'अति व्यभिचारी, कोढ़ी और क्रूर पति की पूजा करना हरेक पतिव्रता स्त्री का धर्म है' किसी समय का यह सामाजिक सत्य और स्त्रियों के उत्पीड़न और शोषण के रूप में ही दिखता है। आदर्शवाद समय और परिस्थिति से सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाता, उसकी मान्यताएँ अपरिवर्तनशील और कठोर होती हैं।

मैं यथार्थवाद को वह आदर्शवाद समझता हूँ जो काल और परिस्थिति से अनुशासित है। यथार्थवाद अपनी प्रेरणा समाज से न ग्रहण करके मानव की आधारमूल प्रवृत्तियों से ग्रहण करता है। यथार्थवाद स्वयम् में मान्यताओं को निर्धारित नहीं करता—मान्यताओं को निर्धारित करने का काम शास्त्रों के अन्तर्गत आता है जो बौद्धिक है, यथार्थवाद मान्यताओं

को निर्धारित करने वाले चेतन, प्रबुद्ध और भावनामय मानव में संवेदन की सृष्टि करता है, जो भावनात्मक प्रक्रिया है।

मैं आदर्शवाद और यथार्थवाद में केवल इतना भेद देखता हूँ। साहित्य और कला का भाग होने के कारण आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों में ही कुरूपता को कोई स्थान नहीं, असद् और अकल्याण से दोनों ही परे हैं। वस्तुत: प्रत्येक यथार्थवाद में मानव की उदात्त भावना का समावेश होना चाहिये क्योंकि इसी उदात्त भावना में सद् और कल्याण है और प्रत्येक आदर्शवाद में सहनशीलता होनी चाहिये, शाश्वत सत्य और मान्यताओं पर ही उसकी स्थापना होनी चाहिये।

छठाँ परिच्छेद

भाव और भावना

प्रत्येक साहित्य में एक भावना रहती है, प्रत्येक साहित्य में एक भाव होता है। भाव और भावना दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं और भाव तथा भावना के अन्तर को समझ लेने से हमें साहित्य के मूल्यांकन में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

जिसे हम भाव कहते हैं उसका आधार भावना में है लेकिन भाव की भावना से पृथक् अपनी निजी पृथक् संज्ञा है। भावना और बुद्धि के योग से भाव का जन्म होता है और इसलिए यदि हम भाव को भावना का बौद्धिक रूप कहें तो अनुचित न होगा। जहाँ भावना विशुद्ध वैयक्तिक उपकरण है वहाँ भाव बौद्धिक होने के कारण सामाजिक उपकरण बन गया है। भावना हमारी व्यक्तिगत चीज है, बुद्धि के क्षेत्र के बाहर। शुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया से हम भावना को व्यक्त नहीं कर सकते। बुद्धि के द्वारा हम भावना को जो रूप देते हैं, वह भाव कहलाता है।

भावना वैयक्तिक होने के कारण आदान-प्रदान के बाहर की चीज है, भाव सामाजिक होने के कारण आदान-प्रदान से युक्त है। भावना को भाव का रूप देकर ही कला में व्यक्त किया जा सकता है। पर यहाँ हम इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि कला का आधारमूल तत्त्व भावना है, भाव नहीं। वैसे बौद्धिक होने के नाते कलाकार कभी-कभी भावना का साथ एकदम छोड़ देता है। यहीं कलाकार की सबसे बड़ी कमजोरी हमारे सामने आती है। अपनी इस बात को मैं समझता हूँ मुझे और अधिक स्पष्ट करना चाहिये क्योंकि कला और साहित्य के सही मूल्यांकन में इस दोष का हमें बार-बार सामना करना पड़ता है।

प्रायः यह समझा जाता है कि उच्च साहित्य वह है जिसमें किसी प्रकार का दर्शन हो। कुछ पाश्चात्य आलोचकों ने साहित्य के इस दार्शनिक पक्ष पर काफी जोर दिया है। आज साहित्यकारों में यह परम्परा-सी चल गयी है कि साहित्य में कोई न कोई दर्शन वे प्रतिपादित करें। वर्तमान-साहित्य का यह दार्शनिक पक्ष भावात्मक है—भावनात्मक नहीं है, मुझे तो कुछ ऐसा लगता है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि प्रत्येक

दर्शन के पीछे उस व्यक्ति की भावना है जिसने उस दर्शन को प्रतिपादित किया है। तर्क और बुद्धि का एक रूप होता है, एक क्रम होता है; भावना के अनेक रूप और क्रम हुआ करते हैं। इसलिए प्रत्येक दर्शन भावनात्मक होता है और सम्भवतः यही कारण है कि पाश्चात्य आलोचकों ने साहित्य के दार्शनिक पक्ष को इतनी अधिक महत्ता दी है।

लेकिन दर्शन स्वयम् में भावनात्मक होते हुए साहित्य में प्रायः भावात्मक रूप से ही आता है। कृष्ण का कर्मवाद, बुद्ध का आचारवाद, मार्क्स का समाजवाद, यह जितने वाद हैं वे सब मूल प्रणेताओं द्वारा उनकी भावना से ही जन्मे हैं। पर आगे चलकर इन भावनात्मक वादों का बौद्धिक-रूप ही जन-साधारण के लिए रह गया, और इन वादों के समर्थकों ने इन दर्शनों को बौद्धिक भावों के रूप में ग्रहण किया तथा प्रतिपादित किया। और फिर भी भावनात्मक साहित्य में दर्शन को जो इतनी महत्ता दी गई है, उसका कोई कारण तो होना ही चाहिये। यह दर्शन भाव के रूप में ही अधिकांश रूप में हमारे सामने आता है, फिर भी साहित्यकार इस दर्शन को अपनी लेखिनी द्वारा भावनात्मक बना देता है, अन्यथा साहित्यकार असफल है। इस स्थान पर अच्छी तरह समझ लेना पड़ेगा कि भाव को भावना बना देने का साहित्यकार का क्रम क्या होता है।

साहित्य या कला को प्राणवान् बनाता है कलाकार या साहित्यकार के व्यक्तित्व का कला और साहित्य में निक्षेप, प्रत्येक प्राणवान् और सफल साहित्य में साहित्यकार का यह व्यक्तित्व मूर्त्त होता है। यह व्यक्तित्व साहित्यकार के जीवन का अभिन्न भाग होने के कारण उसके कृतित्व का भी महत्त्वपूर्ण भाग हुआ करता है। साहित्यकार के कृतित्व में उस व्यक्तित्व की क्रियाशीलता शरीर की न होकर उसके मन की होती है। हमारा दृष्टिकोण, हमारे विश्वास, हमारी अभिरुचि। यह सब हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। और यह दृष्टिकोण, अभिरुचि एवं विश्वास सामाजिक उपकरण न होकर वैयक्तिक उपकरण हुआ करते हैं, यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यह दृष्टिकोण, अभिरुचि और विश्वास तर्क और बुद्धि-क्षेत्र के बाहर के हैं—यह शुद्ध-रूप से भावनात्मक हैं। और सच तो यह है कि हमारे तर्क और बुद्धि भी इन्हीं भावनात्मक अभिरुचि, दृष्टिकोण एवं विश्वासों से प्रभावित हुआ करते हैं।

हम किसी भी साहित्यकार की रचना पढ़ते समय उसमें किसी विशेष दर्शन को नहीं ढूँढते और न रचना से हम कोई शास्त्रीय ज्ञान पाना चाहते हैं। सामाजिक मान्यताओं का प्रतिपादन साहित्य का क्षेत्र नहीं है, हम

ता साहित्यकार की रचना आनन्द प्राप्त करने के लिए पढ़ते हैं, और हमें आनन्द मिलता है उस साहित्यकार की भावना में जो बराबर हमारे मन को पुलकित कर देती है। आनन्द को ग्रहण करने वाला मन होता है, बुद्धि नहीं होती।

भावनात्मक होने के कारण साहित्य मन पर प्रभाव डालता है, बुद्धि पर नहीं। पर इसके ये अर्थ नहीं कि भावनात्मक साहित्य बुद्धि के क्षेत्र से बिल्कुल बाहर है। बुद्धि स्वयम् भावना से प्रभावित हुआ करती है—इस सत्य की उपेक्षा हम किस प्रकार कर सकते हैं? भावनात्मक साहित्य का प्रभाव दूसरों की बुद्धि पर उनके मन के माध्यम से पड़ता है। लेकिन मूल ध्येय साहित्य का मन को प्रभावित करना है। और बौद्धिक प्राणी होने के नाते हम प्रत्येक पग पर बुद्धि की महत्ता को स्वीकार करते हैं। ऐसी हालत में वह साहित्य महान् कहा जा सकता है जिसमें उस साहित्य का प्रभाव मन पर इस हद तक पड़े कि मन बुद्धि को तादात्म कर ले। और महत्ता यहाँ मन को ही मिलेगी, बुद्धि को नहीं मिलेगी।

हम तुलसीदास के साहित्य से प्रभावित होते हैं, उनके किसी दर्शन के कारण नहीं। तुलसीदास का साहित्य पढ़ते समय हम दर्शन शास्त्र, विज्ञान आदि बौद्धिक उपकरणों को अनुभव ही नहीं करते, हम तो तुलसीदास की भावना में अपने को खो देते हैं। कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल, रघुवंश अथवा मेघदूत हम ज्ञान प्राप्ति के लिए नहीं पढ़ते और न हम इन ग्रंथों में बौद्धिकता प्राप्त करने की आशा ही करते हैं, हम तो कालिदास की भावना से अपने अन्दर भावनात्मक एकरसता का आनन्द करना चाहते हैं। कालिदास, शेक्सपियर, होमर—इन विश्वविख्यात कवियों में बौद्धिकता और अनुभवजनित ज्ञान की प्रचुरता अवश्य मिलेंगे, पर यह अनुभव ज्ञान पढ़ने वाले को भावना के माध्यम से प्राप्त होते हैं।

भावात्मक साहित्य आज के नवीन बौद्धिक युग की उपज नहीं है, अनादिकाल से इस प्रकार का साहित्य लिखा गया है। भावना का भाव में परिणत हो जाना, यह बौद्धिक प्रक्रिया है, और अनादिकाल से मनुष्य बौद्धिक विकास के क्रम में रत रहा है। बड़े-बड़े आचार्यों ने जिनमें बौद्धिकता प्रधान रही है, भाव के सम्बन्ध में न जाने कितना कहा है और लिखा है। साहित्य में और कला में उन्होंने भाव को प्रधानता दी है क्योंकि अपनी विद्वत्ता और अपने ज्ञान के अतिशय प्रभाव से वे कला का असली रूप ठीक तरह से नहीं देख पाए। फिर सामाजिक उपकरण होने के कारण भाव हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण अवयव भी बन जाया

करता है। इस ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना नहीं की जा सकती कि जितना भी मानव-विकास हो सका है वह सब बौद्धिक संसर्ग में आने के कारण भावना के भाव का रूप ग्रहण करने के कारण ही हो पाया है।

सामाजिक मान्यताएँ और विश्वास जो समाज में भाव का रूप ग्रहण कर लेते हैं, उन्होंने मूल रूप से किसी व्यक्ति की भावना के रूप में ही जन्म लिया है। नवीन सामाजिक मान्यताएँ और विश्वास भी व्यक्तियों की भावना के रूप में जन्म लेते रहते हैं। पर ऐसे व्यक्ति जो समाज द्वारा मान्य हो सकने योग्य नवीन मान्यताओं और विश्वासों को जन्म दे सकते हों—दो चार युगों में एक या दो हो सकते हैं और उन व्यक्तियों को युग-प्रवर्तकों के रूप में समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है। बाकी अन्य अनगिनती मनुष्य समाज की प्रचलित मान्यताओं और विश्वासों को स्वीकार करके ही अपना जीवन काट देते हैं।

अन्य कलाओं की अपेक्षा साहित्य अधिक भावात्मक हो सकता है और होता है क्योंकि साहित्य बौद्धिक है। और साहित्य का विशेष-रूप से भावात्मक होना साहित्य में उपयोगितावाद को प्रतिपादित करता है। जहाँ अन्य कलाओं का ध्येय विशुद्ध भावानत्मक मनोरंजन होता है वह साहित्य का ध्येय भावनात्मक मनोरंजन के साथ-साथ बौद्धिक उपयोगिता की प्रतिपादना भी माना जाने लगा है। उपयोगितावाद की इस 'प्रतिपादना' तत्त्व के अनुरूप ही हम साहित्य को भावात्मक कह सकते हैं क्योंकि 'प्रतिपादना' स्वयम् में बौद्धिक प्रक्रिया है और भाव भावना का बौद्धिक उपकरण है।

इस बौद्धिक युग में जहाँ भावना का सहारा हरेक बौद्धिक विकास और बौद्धिक स्थापना में लिया जाने लगा है, साहित्य का अधिक से अधिक भावात्मक होते आना स्वाभाविक है। वह अधिकांश साहित्य जो आजीविका के लिए लिखा जाता है, मूलरूप से भावात्मक होता है क्योंकि सामाजिक मान्यताओं की प्रतिपादना से अर्थ की प्राप्ति हो सकती है। मेरा ख्याल है कि अगर मैं भावात्मक साहित्य की इस प्रकार परिभाषा करूँ, "भावात्मक साहित्य व्यवसाय-मूलक साहित्य होता है" तो मेरी परिभाषा गलत नहीं होगी। यह जो प्रमुखतः भावात्मक साहित्य है, इसकी रचना स्पष्ट-रूप से अधिकांश में समाजवादी परम्परा के अनुसार हो रही है जहाँ साहित्य को उपोगितावाद के नियमों से जकड़ दिया गया है। साहित्य की सामाजिक उपयोगिता उन विशिष्ट भावों की स्थापना

अथवा प्रतिपादन में होती है जिनके अनुसार समाज स्थापित हुआ है और जो समाज के विकास में सहायक होते हैं।

समाजवाद स्वयम् में एक भाव है जिसने मार्क्स से भावना के रूप में जन्म लिया था लेकिन समाज ने उस भावना को बौद्धिक रूप से स्वीकार कर के और उसे एक नवीन समाज की आधार-भूमि बना कर मार्क्सवाद को अपने रूप में ग्रहण कर लिया है। मार्क्सवाद में जहाँ-तहाँ जो परिवर्तन हुए हैं, वह भी बाद वाले विशिष्ट विचारकों की भावना के रूप में जिन्होंने मार्क्सवाद को आधार के रूप में स्वीकार किया; और एंजलस, लेनिन आदि ऐसे सशक्त और सक्षम विचारकों की टीकाओं को भी समाज द्वारा 'भाव' के रूप में स्वीकर कर लिया गया।

सामाजिक संज्ञा होने के कारण भाव जन साधारण के लिए सुबोध और आसानी से ग्राह्य होता है, और स्पष्ट रूप से उपयोगी वह अधिक हो सकता है जो सुबोध हो तथा आसानी से ग्राह्य हो।

बुद्धि तत्त्व के अभाव से भावना का प्रभाव और रूप अनिश्चित और अस्पष्ट ही हो सकता है, जब कि भाव को बुद्धि का सहारा प्राप्त होने के कारण उसका रूप तो निश्चित और स्पष्ट हो जायगा, और इस स्पष्ट तथा निश्चित रूप के कारण उसका प्रभाव भी कुछ न कुछ अवश्य पड़ेगा। जो स्पष्ट और निश्चित है वही व्यवसाय-मूलक हो सकता है। वैसे अस्पष्ट और अनिश्चित की सफलता और सार्थकता कई स्थानों में इस स्पष्ट और निश्चित की सफलता और सार्थकता से कहीं अधिक हुई है और हो सकती है—महान् और स्रष्टा साहित्यकारो की कृतियों से यह प्रमाणित होता है, पर इस अनिश्चित और अस्पष्ट को व्यवसाय का आधार नहीं बनाया जा सकता।

और इसीलिए अधिकांश कला भावात्मक होती है क्योंकि कला के साथ उसका व्यावसायिक पक्ष हमेशा जुड़ा रहता है। केवल साधकों और मनीषियों को छोड़कर अन्य जितने कलाकार हैं वे अपनी कला का उपयोग व्यवसाय के रूप में ही करते हैं। कला होने के नाते साहित्य भी इस व्यवसाय के नियम से बँधा हुआ है।

अलंकार, नायिका भेद, नखशिख—ये सब साहित्य में भाव के रूप में विद्यमान हैं और रीतिकालीन कविता का एक व्यावसायिक पक्ष रहा है—यह बात कुछ लोगों को अजीब सी भले लगे, लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता। मैं इस बात को स्वीकार किये लेता हूँ कि रीतिकालीन कविता के आचार्यों में बड़े-बड़े अपण्डित और विद्वान् हो

गए हैं। लेकिन यह कोई कैसे कह सकता है कि पण्डित व्यावसायिक पक्ष से सर्वथा मुक्त है ? जैसा मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ, केवल मनीषी और साधक—या फिर जिन्हें हम अर्ध पागल या दीवाना कह सकते हैं; लेकिन इन्हें मैं साधकों में गिनता हूँ—इस व्यावसायिक पक्ष से मुक्त रहते हैं। बाकी सब लोग, इनमें मैं हरेक वर्ग और हरेक समाज के व्यक्ति को सम्मिलित समझता हूँ, अपने श्रम को, अपनी प्रतिभा को और अपनी क्षमता को आजीविका के लिए क्रय करते हैं।

कला के साथ—साहित्य को कला के रूप में ही देखा जाय—अनादि काल से उसका व्यावसायिक पक्ष रहा है, और भाव कला के इस व्यावसायिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

वैसे भावात्मक साहित्य अनादि काल से रहा है, लेकिन इस भावात्मक साहित्य को सामाजिक महत्त्व चेतन रूप में वर्तमान समाजवादी व्यवस्था द्वारा ही दिया गया है तथा इस भावात्मक साहित्य को प्रमुख रूप से प्रोत्साहित किया गया है। समाजवादी मान्यताओं ने साहित्य के भाव पक्ष को ही साहित्य का एकमात्र पक्ष माना है। भावना पक्ष तो इस समाजवादी व्यवस्था द्वारा अस्वीकार और अमान्य कर दिया गया है। और शासन के आधीन समस्त सामाजिक शक्ति आ जाने के कारण इस भावात्मक साहित्य की धारा भी एकांगी और सीमित हो गयी है।

व्यावसायिक होने के नाते कला स्वभावतः उपयोगिता के नियमों से बँध जाती है। मतभेद इस पर हो सकता है कि क्या उपयोगी है और क्या उपयोगी नहीं है। यही नहीं, कुछ चीजें जो कुछ लोगों के लिए उपयोगी हो सकती हैं, दूसरों के लिए वही अनुपयोगी लगें। फिर उपयोगिता की सामाजिक मान्यता भी काल और परिस्थिति के अनुसार बेतरह बदलती रहती है। सामंतवादी युग में कला की यह उपयोगिता कलाकारों को आश्रय और आजीविका प्रदान करने वाले सामन्तों के मनोरंजन में सीमित थी, जनवादी युग में यह उपयोगिता जनता के मनोरंजन में आ गयी। जिस समय मुझसे किसी नाटक-मण्डली का मालिक एक नाटक लिखने को कहता है, उस समय मुझे उस नाटक की लोकप्रियता का ध्यान रखना अनिवार्य हो जाता है क्योंकि नाटक-मण्डली का मालिक व्यावसायिक रूप से नाटक की सफलता चाहता है। वह मुझे समय की रुचि का ध्यान रखते हुए नाटक का विषय बतलाता है, उसके पास किस प्रकार के अभिनेता हैं, और उन अभिनेताओं के कौन-कौन से गुण हैं जिनका प्रदर्शन किया जा सकता है—इसकी सूचना मुझे

देता है। इस प्रकार जो नाटक उसके लिए मैं लिखता हूँ वह उपयोगितावाद के नियमों से बँधा होता है।

रेडियो में भी विषय देकर नाटक लिखाए जाते हैं, कहानियाँ लिखाई जाती हैं, निबन्ध लिखाए जाते हैं। वहाँ भी उपयोगितावाद का पहलू ही हमारे सामने रहता है। यही नहीं, इस व्यावसायिक युग में भावनात्मक रूप से किसी माल के प्रति अनुरक्ति और लगाव पैदा करने के लिए कविताएँ तथा कहानियाँ लिखाई जाती हैं। इस प्रकार उपयोगितावाद कला और साहित्य का महत्वपूर्ण अंग बनता जा रहा है। यह व्यावसायिक उपयोगितावाद समाजवादी व्यवस्था में तो सबसे अधिक प्रबल और स्पष्ट हो गया है। समाजवादी उपयोगितावाद में कला का मनोरंजन-पक्ष केवल साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसे साध्य माना ही नहीं जाता। समाजवादी व्यवस्था में कला और साहित्य का साध्य है शासन-व्यवस्था द्वारा मान्य जन-कल्याण और समाज-निर्माण का कार्य।

पर जिसे हम अमर साहित्य कहते हैं वह भावात्मक साहित्य नहीं, भावनात्मक साहित्य ही हो सकता है। जहाँ भावात्मक साहित्य में साहित्यकार दूसरों की भावना को सजाता है, उस भावना को भाव के रूप में ग्रहण करके उसे प्रतिपादित करता है, वहाँ भावनात्मक साहित्य में साहित्यकार अपनी भावना को मूर्त करता है। मेरा कुछ ऐसा मत है कि केवल भावनात्मक साहित्य ही सृजनात्मक साहित्य कहलाने की शक्ति रखता है, भावात्मक साहित्य अधिकांश में प्रचारात्मक साहित्य की कमजोरी से ग्रस्त हुआ करता है। इस स्थान पर 'प्रचार' शब्द का उसके व्यापक अर्थ में प्रयोग कर रहा हूँ। इस 'प्रचार' शब्द को मैं उदाहरण देकर ही समझा सकता हूँ, और वह मैं आगे करूँगा।

सृजनात्मक साहित्यकार की रचना हम साहित्यकार के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर पढ़ते हैं, हम उस रचना में किसी प्रकार के दर्शन, किसी प्रकार का ज्ञान या किसी विशिष्ट भाव की उपलब्धि नहीं ढूँढ़ते। तुलसीदास ने किसी विशेष दर्शन को नहीं प्रतिपादित किया है, न हम किसी सामाजिक मान्यता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तुलसीदास का साहित्य पढ़ते हैं। हम तुलसीदास का साहित्य केवल इसलिए पढ़ते हैं कि वह साहित्य तुलसीदास द्वारा लिखा गया है, उसमें तुलसीदास ने अपनी भावना से पाठक को विभोर करने का प्रयत्न किया है। हम उस साहित्य को पढ़ते समय तुलसीदास के व्यक्तित्व से प्रभावित होते हैं। उस व्यक्तित्व का रूपान्तर तुलसीदास की भावना ही है, भाव नहीं है। वैसे तुलसीदास

ने किसी भाव को अपनाया है--लेकिन उस भाव ने तुलसीदास की भावना से तादात्म्य स्थापित कर लिया है। स्रष्टा साहित्यकार में प्रधान होती है भावना, भाव प्रधान नहीं होता।

भावात्मक साहित्य में प्रधान होता है कोई विशिष्ट भाव, साहित्यकार का स्थान वहाँ नगण्य-सा माना जाता है। मान लें एक फिल्म कम्पनी दानी कर्ण पर एक फिल्म बनवाना चाहती है। इस फिल्म की कहानी लिखने का काम किसी योग्य साहित्यकार को सौंपा जाता है। दस-पाँच साहित्यकारों से बात करके जिससे रुपए-पैसे की बात तै हुई, उसी को इस कहानी को लिखने का काम सौंप दिया गया। तो इस स्थान पर विषय अथवा भाव प्रमुख है, कौन साहित्यकार इस कहानी को लिखता है इसकी अधिक महत्ता नहीं है। इसी तरह मान लें कि भाखरा नंगल, या खण्ड विकास योजनाओं पर सरकारी प्रचार के लिए सरकार कोई उपन्यास लिखाना चाहती है जिससे जनता का भावनात्मक सहयोग इन कामों में सरकार को मिल सके। इस उपन्यास को लिखने के लिए दस उपन्यासकारों से बात की जाती है और एक से सौदा पट जाता है। वह साहित्यकार उपन्यास लिखता है और उपन्यास बाजार में आ जाता है। यहाँ भी प्रधानता भाव को मिली, साहित्यकार के व्यक्तित्व को गौण स्थान ही प्राप्त हो सका।

पर इसके यह अर्थ नहीं कि कर्ण पर लिखा जाने वाला नाटक या भाखरा नंगल से सम्बन्धित ये शुद्ध रूप से प्रचारात्मक ही होंगे, सृजनात्मक ग्रंथ ये किसी हालत में हो ही नहीं सकते। मेरा तो कुछ ऐसा मत है कि प्रत्येक प्रचारात्मक साहित्य सृजनात्मक हो सकता है यदि भाव लेखक में भावना का रूप धारण कर ले अर्थात् विषय में और लेखक में तादात्म्य स्थापित हो जाय। यह जो संतों ने पौराणिक आख्यानों अथवा उपाख्यानों पर अमर रचनाएँ लिखी हैं वहाँ विषय में और कवि में तादात्म्य स्थापित हो गया है, वहाँ भाव ने लेखक में भावना का रूप ग्रहण कर लिया है।

अधिकांश में यह देखा जाता है कि भावनात्मक साहित्य काल और परिस्थिति की सीमा से मुक्त होता है। मनुष्य की भावना अनादि और अनन्त है। यह भावना स्वयम् में काल और परिस्थिति की सीमा से मुक्त है। वहीं भावात्मक साहित्य काल और परिस्थिति की सीमा से बँधा हुआ होता है।

मैं तो साहित्य की उत्कृष्ठता और उसके सामर्थ्य की माप इसमें

इसमें देखता हूँ कि साहित्य भावात्मक है अथवा भावनात्मक है। जैसा कि मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ। भाव के साथ कलाकार को भावनात्मक तादात्म्य ही कला को सृजनात्मक और सक्षम बना सकता है।

हरेक कला की भाँति साहित्य भी आजीविका का साधन हुआ करता है, इस सत्य को स्वीकार कर लेने में किसी को आपत्ति क्या हो सकती है और क्यों हो सकती है—यह मेरी समझ में नहीं आता। यही नहीं, साहित्य का उद्देश्य ज्ञान नहीं है, मनोरंजन है—यह भी ध्रुव सत्य है। इन दोनों बातों को जोड़ देने के बाद मैं भावात्मक साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकता, यह भावात्मक साहित्य उस साहित्य से निम्न भले ही हो जिसे हम सृजनात्मक अथवा भावनात्मक साहित्य कहते हैं। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि साहित्य की जितनी भी मान्यताएँ स्थापित की जा सकती हैं वह सब इस भावात्मक साहित्य के बल पर, भावनात्मक साहित्य के आधार पर नहीं।

इस स्थान पर यदि मैं कहूँ कि मैं साहित्यकारों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकता हूँ—सृजनात्मक साहित्यकार, व्यवसायिक साहित्यकार और शौकिया साहित्यकार, तो इस वर्गीकरण से भावात्मक साहित्य और भावनात्मक साहित्य के मूल्यांकन में हमें बड़ी सहायता मिलेगी।

स्रष्टा साहित्यकार साहित्य की स्थापित मान्यताओं के प्रति उदासीन हुआ करता है। वह तो एक अज्ञात शक्ति और प्रेरणा के रूप में आता है, जन-रुचि का अनुसरण न करके वह स्वयं जन-रुचि को एक नवीन धारा प्रदान करता है और दूसरों के मनोरंजन का दास न होकर वह दूसरों द्वारा अपने मनोरंजन को स्वीकृति कराने की क्षमता रखता है।

पर यह स्रष्टा साहित्यकार साहित्य के क्षेत्र में नियम न होकर अपवाद हुआ करता है। एक युग में या दो-चार युगों में एक या दो इस प्रकार के स्रष्टा कलाकार होते हैं जो अमर कहला सकें। यह लोग स्थापित मान्यताओं के अनुसार नहीं चलते बल्कि नवीन मान्यताओं और परम्पराओं की स्थापना करते हैं।

दूसरी कोटि में व्यवसायिक साहित्यकार आते हैं। यह उन साहित्यकारों का वर्ग है जो आजीविका के लिए अपने साहित्य पर निर्भर रहते हैं। आजीविका प्राप्त करने के लिए इनके साहित्य और इनकी कला को समय की माँग के नियमों में बँधना पड़ता है। व्यक्तिगत रूप से मैं साहित्य की मान्यताओं और स्थापनाओं को इन्हीं लोगों में पाता हूँ क्योंकि यह जितनी स्थापनाएँ और मान्यताएँ हैं वह सब कला अथवा साहित्य की

क्षमता और उपयोगिता के आधार पर बनी हैं। यदि यह लोग अथवा साहित्य की स्थापित मान्यताओं के विरुद्ध चलें तो यह साहि जनता की दृष्टि में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते और इस प्रक अपनी आजीविका के उपार्जन में असफल होंगे।

तीसरी कोटि शौकिया साहित्यकारों की है। यह शौकिया साहि अनादिकाल से रहे हैं। प्राचीन काल में राजा और रईस शौक से क लिखते थे; यही नहीं जनता में भी कुछ मनचले लोग कविताएं लेते थे लेकिन इन लोगों का उद्देश्य जीविकोपार्जन कभी नहीं शिक्षा और सम्पन्नता के साथ आज के युग में शौकिया साहित्यक संख्या बेतहाशा बढ़ गई है। इन शौकिया साहित्यकारों में आ प्रेरणा होती है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, और इनमें के पास प्रतिभा भी होती है। इनकी कला का उद्देश्य आजीविका इसलिए इनका साहित्य अधिकांश में भावनात्मक होता है, भा नहीं। लेकिन वहीं बिना प्रतिबन्ध के और इस प्रकार के साहित्यक निष्ठा के अभाव से यह भावनात्मक साहित्य अराजकता की सं पहुँच जाता है। इन साहित्यकारों का जीवन विभिन्न धाराओं में बँट होता है इसलिए यह साहित्य की साधना कर ही नहीं पाते; ऐसी में शौकिया साहित्यकारों की कृतियों में संयम और गम्भीरता का होना स्वाभाविक है।

सम-सामयिक साहित्य की आलोचनाओं और प्रत्यालोचना इधर कुछ दिनों से इन शौकिया साहित्यकारों का बहुत बड़ा हा है। लेकिन इन लोगों की मान्यताओं में और स्थापनाओं में स्थायि अभाव है क्योंकि शौक स्वयम् में अस्थायी होते हैं। इसके यह शौकिया साहित्य शौकीन साहित्यकारों तक सीमित रह जाता साधारण में यह अपना स्थान नहीं बना पाता।

साहित्य की मान्यताओं पर विचार करते समय मैं भावनात्म व्यवसायिक साहित्य को ही अपने सामने रखता हूँ। भावात्मक स साहित्यकार की भावना के तादात्म्य से अमर साहित्य बन सकता है अनगिनती उदाहरण मेरे सामने हैं। 'राम' एक भाव का प्रतीक बाल्मीकि ने प्रथम बार साहित्य में समाविष्ट किया था। रा लेकर भवभूति ने उत्तर रामचरित की रचना की जो भवभूति के भाव तादात्म्य से अमर साहित्य बन गया। उसी राम को लेकर तुलसीद

रामचरित मानस की रचना की जो हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है और अमरता प्राप्त कर चुका है।

विशुद्ध भावात्मक साहित्य अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहता, और रह भी नहीं सकता। यह जितना रीतिकालीन साहित्य है—नखशिख, नायिका भेद—इनमें कवियों की भावना की अपेक्षा उनके पाण्डित्य की प्रचुरता है और पाण्डित्य तथा कौशल के बल पर कुछ समय के लिए तो अवश्य इस प्रकार का साहित्य चला, लेकिन भावना के अभाव से यह साहित्य धीरे-धीरे मिटता जा रहा है। केशवदास की रामचन्द्रिका, भिखारीदास का काव्य निर्णय—प्राण्डित्य के इतने महान् ग्रंथ भी नवीन युग में बहुत पीछे पड़ गए हैं; पर इस प्रकार का साहित्य अपने समय में ही नहीं वरन् पीढ़ियों तक रुचि के साथ पढ़ा गया, यही क्या कम है।

———

सातवाँ परिच्छेद

साहित्य का आदि-रूप—कविता

कला मानव की आदि-प्रवृत्ति है, लेकिन कला का वर्गीकरण तथा उसका विश्लेषण मानव के बौद्धिक विकास के साथ ही हो सका है। और इसीलिए परिष्कार का नियम जो बौद्धिक विकास का ही एक अंग है, कला के वर्गीकरण में स्पष्ट-रूप से दिखता है।

साहित्य की मान्यताओं के विवेचन में मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि भावना को शब्द वहन नहीं करना वरन् गति वहन करती है। इस गति का सबसे स्पष्ट और सुबोध-रूप है लय। इस लय के आधार पर तीन कलाओं का जन्म हुआ, ऐसा मेरा मत है। यह तीन कलाएँ हैं—संगीत, नृत्य और कविता।

अर्धविकसित अथवा जिसे हम आदिम समाज कहते हैं, उसमें आज भी नृत्य और संगीत प्रचुर मात्रा में मौजूद है, यद्यपि कविता नाम की कोई चीज़ उस समाज में है, यह कहना कठिन है।

अनुसरण करना, जैसा दूसरे करते हैं वैसा करना—यह मानव की आदि प्रवृत्ति है। बच्चों में नकल बनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है और इसलिए मैं अभिनय को मनुष्य की आदि प्रवृत्ति मानता हूँ। नृत्य, गति और अभिनय के योग से बना है। नृत्य प्रमुखतः गति में सीमित है, और इसलिए अत्यन्त अविकसित समाज में भी नृत्य मौजूद है। नृत्य में अभिनय को सम्मिलित करके उसे कला का नाम दिया गया है। और इसी लिए मैं नृत्य को सबसे प्राचीन समझता हूँ। पशु-पक्षी भी नृत्य करते हैं। मयूर के नृत्य को तो हम लोग जानते ही हैं। सिखाए जाने पर अन्य पशु भी मनुष्य की बौद्धिक परम्परा के अनुसार अभिनय कर सकते हैं।

मनुष्य की इस आधार मूल प्रवृत्ति लय ने स्वर के साथ संगीत को जन्म दिया। यह संगीत प्रमुखतः स्वर-प्रधान होता है, पर मनुष्य के बौद्धिक प्राणी होने के कारण स्वर स्वभावतः शब्द का रूप धारण कर लेता है और इसलिए संगीत के साथ शब्द अनिवार्य न होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य में स्वर का माध्यम शब्द है। स्वर की लय स्वभावतः सशब्द स्वर की लय हो जाती है। इस वैज्ञानिक नियम के अनुसार ही कविता का जन्म हुआ।

और इसी लिए मेरा मत है कि साहित्य का आदि रूप कविता है और कविता का आदि-रूप गीत है। भावना अनादि है, बुद्धि विकास की चीज़ है। साहित्य शब्द की कला है, शब्द बुद्धि का वाहक है। अनादि भावना का आदि-रूप गीत ही हो सकता है। साहित्य के अन्य वर्ग मानव-बुद्धि के विकास के साथ ही विकासित हुए। और शायद इसी लिए हमें भारतीय कविता के प्रथम दर्शन सामवेद की ऋचाओं में ही होते हैं।

जैसा मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ आदि कलाओं में नृत्य, संगीत और कविता को मैं मानता हूँ। यह तीनों कलाएँ लय के आधार पर विकसित हुईं पर बौद्धिक विकास के साथ लय का भी विकास होता गया। सामवेद की मन्त्रों में लय तो है, पर उनमें छन्दों का रूप विकसित नहीं है। छन्द की चेतना हममें उस समय नहीं थी।

इस स्थान पर मुझे छन्द की परिभाषा अनायास ही मिल गयी। लय की आवृति ही छन्द है, और यह आवृत्ति विशेष नियमों से बँधी होती है। यह लय की आवृत्ति नृत्य और संगीत में समान रूप से मौजूद है। वहाँ वह ताल कहलाती है, कविता में उसे छन्द का नाम दे दिया गया है। और इसी लिए जहाँ सामवेद के मन्त्रों में कविता का बीज रूप मिलता है वहाँ बाल्मीकि की रामायण में हमें लय की आवृत्ति से युक्त छन्द के प्रथम दर्शन होते हैं। सम्भवत: बाल्मीकि के लिए जो आदि कवि का विशेषण प्रयुक्त किया गया है, उसका यही कारण है।

आज के युग में कविता के क्षेत्र में छन्दों की महत्ता का विरोध अचानक खड़ा हो गया है और कुछ पढ़े-लिखे अध्यापक वर्ग के लोग भी इस विरोध में सम्मिलित हैं। छन्दों का यह विरोध मनुष्य में नवीनता के प्रति आसक्ति की द्योतक प्रवृत्ति हो सकती है, पर इस विरोध को सिद्धान्त की छत्र-छाया में प्रकट किया जा रहा है, यह दुर्भाग्य की बात है। बौद्धिक विकास में जब-तब बौद्धिक अराजकता भी आ जाया करती है—और कविता में छन्दों के इस विरोध में यह बौद्धिक अराजकता मुझे स्पष्ट-रूप से दिखती है।

एक बार नयी कविता के प्रतिनिधि-अध्यापक-नेता वर्ग के एक सज्जन ने मुझसे कहा था, "यह छन्द-आवृत्ति के नियम में बंधने के कारण उबन (Monotony) से भरी एकरसता के प्रतीक हैं। और इसलिए यह उबन से भरी एकरसता स्वयम् में कुरूपता है। हम इस आवृत्ति की सीमा को तोड़ कर कविता को मुक्त करना चाहते हैं।" और उन सज्जन की आँखों में जिहाद करने वाले के विश्वास की चमक आ गयी थी।

मैंने थोड़ी देर तक उन सज्जन के कथन पर सोचा। क्या वास्तव में इस आवृत्ति में उबन से भरी एकरसता (Monotony) है ? और अगर है तो क्या यह एकरसता कुरूप है ? उसके बाद मैंने उनसे एक प्रश्न किया, "क्या आप आवृत्ति की एकरसता को उबन से भरी हुई मानते हैं ? आपको आवृत्ति से जो शिकायत है, वह क्यों है ? मैं तो समझता हूँ कि इसी आवृत्ति में जीवन बँधा है, यही आवृत्ति हमारी स्थापना है। इस आवृत्ति को तोड़ने में मुक्ति है, आपकी यह बात सही हो सकती है लेकिन वह मुक्ति मृत्युवाली मुक्ति होगी। और कला को मैं जीवन का प्रतीक मानता हूँ, मृत्यु की नहीं।"

"मैं आपकी बात समझा नहीं।" उन्होंने कुछ चौंकते हुए कहा।

उनके इस प्रकार चौंकने से मुझे हँसी आ गयी। मैंने अब अपनी बात स्पष्ट की। "देखिये पृथ्वी जो सूर्य की परिक्रमा तीन सौ पैंसठ दिन चार घण्टे में करती है क्या इसमें आवृत्ति नहीं है ? दिन और रात का बारी-बारी से आना क्या इसमें आवृत्ति नहीं है ? यह जितने ग्रह-उपग्रह हैं इनकी चाल आवृत्ति के नियमों से बँधी हुई है और इसी लिए यह स्थित हैं। यदि यह ग्रह-उपग्रह आवृत्ति का नियम तोड़ दें तो यह जितने ग्रह-उपग्रह हैं यह सब एक-दूसरे से टकरा जाएँगे—और इसके बाद प्रलय की अवस्था आ जायगी।"

"यही नहीं, एक स्वस्थ आदमी जब चलता है तो क्या उसके कदम नपे हुए नहीं पड़ते ? जिस समय उसके पैर में लड़खड़ाहट आ जाय उसी समय उसमें अस्वस्थता का बोध होने लगता है। और आगे बढ़िये, हमारे हृदय की धड़कन भी इस आवृत्ति के नियम से बँधी हुई है, केवल रोगी के हृदय की धड़कन में इस आवृत्ति का नियम भंग होता है। हमारे सब काम आवृत्ति के नियमों से बँधे हुए हैं, हमारा अस्तित्व आवृत्ति के नियमों से बँधा है। कुछ आवृत्तियाँ हम देख पाते हैं कुछ हम नहीं देख पाते। और इसलिए आप में यह आवृत्ति के विरोध की भावना जाग पड़ी है, यह मेरी समझ में नहीं आती।"

वह सज्जन मेरे इस कथन से संतुष्ट तो नहीं हुए क्योंकि वह इस छन्दहीन नवीन कविता के आचार्य एवं नेता हैं। अपने इस नेतृत्व के कामकाज में तथा गपबाज़ी में वह इतना अधिक व्यस्त हैं कि उन्हें छन्द लिखने के परिश्रम का समय ही नहीं मिलता। लेकिन इस कविता के प्रसंग को उन्होंने वहीं बन्द कर दिया।

एक दूसरे सज्जन ने, जो नई कविता के प्रमुख कवि हैं, छन्दों के

विरोध में एक दूसरी ही बात कही, "वर्मा जी, आजकल जो छन्द-बद्ध गीत लिखे जाते हैं उनमें कविता नहीं के बराबर होती है । वही घिसे-पिटे मुहावरे, वही घिसी-पिटी उपमाएँ—उत्प्रेक्षाएँ ! इसका कारण यह है कि हम कविता को छन्द की सीमा में बाँध देते हैं ।"

मैंने उनकी बात के सत्य को स्वीकार करते हुए कहा, "अधिकांश कविताओं के सम्बन्ध में आपका कथन ठीक है; लेकिन आप इसमें छन्द को कैसे दोष देते हैं ? लेकिन यह कवित्व क्या है ? जिसे आप मौलिक कवित्व कहेंगे, वह तो बहुत कम मिलता है । कवित्व की परिभाषा करना भी बड़ा कठिन है । अब आप मुझे यह बतलाइये कि कविता को आप रूप (Form) के अन्तंगत मानते हैं या विषय (Substance) के अन्तंगत मानते हैं ?"

"मैं तो कविता को विषय के अन्तंगत मानता हूँ । यद्यपि कविता का कुछ भाग रूप (Form) के अन्तंगत आता है ।" उन्होंने कहा, यद्यपि मुझे उनके इस कथन में कुछ उलझन के भाव स्पष्ट दिखे ।

"यहीं मैं आप से असहमत हूँ ।" मैंने उत्तर दिया । "जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है, दुनिया के दो आदमी किसी भी विषय की श्रेष्ठता पर सहमत नहीं होंगे । कुछ लोग गुलाब के फूल में रस देखेंगे, कुछ के मन में कुकुरमुत्ते को देखकर रस उपजेगा । कुछ लोग ज्योत्स्ना, स्वप्न और इन्द्रधनुष में सौन्दर्य को पाते हैं, कुछ को सौन्दर्य मोरी के कीड़े, छिपकली की टाँग, सिगरेट के धुँवे में मिलता है । यदि विषय को ही कविता की कसौटी बना लिया जाय तो कविता और कला के क्षेत्र में एक भयानक अराजकता फैल जाएगी । मैं तो केवल रूप (From) को कविता का आधार मानता हूँ ।"

"तो इसके ये अर्थ हुए कि आप विषय को कोई महत्त्व नहीं देते ।" उन्होंने मुँह बनाते हुए कहा ।

"नहीं, विषय कविता के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन कविता का आधार नहीं है । कालिदास के काव्य में और चूरनवाले के लटके में विषय का जो अन्तर है उसे कोई कैसे भूल सकता है ? विषय के अनुसार कविता की श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता प्रतिपादित होती है। यह अमर काव्य है, यह उत्कृष्ट कविता है, यह साधारण कविता है, यह निकृष्ट कविता है, यह सड़ी बदबूदार कविता है—यह सब ध्यान देते समय हमारे सामने कविता का विषय ही रहता है, रूप नहीं रहता । कविता में विषय की महत्ता को किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता । लेकिन कालिदास का

घदूत और बुधई का चूरन वाला लटका—यह दोनों ही अपने रूप के ारण कविताएँ कहलाती हैं। कविता को साहित्य के अन्य रूपों से पृथक् रते समय हमें कविता के रूप को ही देखना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार से साहित्य को अन्य कलाओं से पृथक् करते समय हमें साहित्य के रूप ो देखना पड़ता है।"

उन सज्जन को भी मेरी बात से संतोष नहीं हुआ क्योंकि अभी हाल ं मैंने उनकी एक कविता छपी हुई देखी है जिसकी प्रथम पंक्तियाँ कुछ स प्रकार हैं—

चिलबिलाती धूप, बिलबिलाते बच्चे, किलबिलाते कीड़े
और मेरी सिगरेट के धुएँ में
पुस्त के अक्षर रेंगते रेंगते—
वह कुत्ता भौंका !

चूरन के लटके को और कालिदास के छन्द को मैं तो समान भाव से कविता मानता हूँ क्योंकि इन दोनों का आधार छन्दों की आवृत्ति से ंधी लय है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ कालिदास का छन्द अमर ौर महान् कविता है वहीं वह चूरन वाले का लटका निकृष्ट कोटि की ाणिक कविता है।

'कविता' शब्द में कुछ भ्रान्ति संस्कृत के 'काव्य' शब्द के कारण त्पन्न हो गयी है। 'काव्य' शब्द उस भावनात्मक साहित्य का द्योतक है जो ौद्धिक और विवेचनात्मक साहित्य से भिन्न है। काव्य के अन्तर्गत गद्य ौर पद्य दोनों ही आते हैं। उस काल में गद्य और पद्य का विस्तृत स्पष्टीकरण शायद इसलिए नहीं किया गया कि उन दिनों गद्य लिखने ी प्रथा नहीं के बराबर थी, अधिकांश साहित्यकार पद्य में ही साहित्य ी रचना करते थे। और इसी लिए जितने नाटक हैं उनमें अधिकांश में द्य मिलता है। यद्यपि स्थान-स्थान पर गद्य समान रूप से आता रहता ै, फिर भी उन नाटकों को काव्य कहा गया है। क्योंकि वह भावनात्मक साहित्य है। बाण भट्ट की कादम्बरी की रचना विशुद्ध गद्य में की गयी है और फिर भी कादम्बरी को काव्य माना गया है। काव्य शब्द उस भावनात्मक साहित्य के लिए प्रयुक्त हुआ है जो साहित्य के दर्शन तथा आलोचना पक्ष से भिन्न है।

एक तरह से उस समय के लिए यह वर्गीकरण ठीक भी था क्योंकि उस समय रस की परिपुष्टि का साधन अधिकांश में पद्य ही समझा जाता था, और यदि रस की परिपुष्टि का साधन कहीं गद्य समझा गया तो

उसे भी काव्य में समाविष्ट कर लिया गया। सम्भवतः इसी लिए आगे चलकर काव्य और पद्य पर्यायी समझे जाने लगे। कहानी-तत्त्व को उस समय साहित्य का पृथक् भाग मानकर उसके सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में कोई विवेचना नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि कहानी-साहित्य बौद्धिक विकास के साथ ही विकसित हुई है और बहुत बाद में कहानी को साहित्य का पृथक् अंग माना गया है। प्राचीन काल में कहानी की सत्ता को अलग से न स्वीकार करके कहानी को प्रधानता दी ही नहीं गयी।

पर इसके अर्थ यह नहीं कि कहानी की उपेक्षा की गयी है उस समय। कहानी को उस समय साहित्य का अंग नहीं माना गया, यह सत्य है; पर कहानी की रचना प्राचीन काल में प्रचुर मात्रा में हुई है। वे कहानियाँ उपदेश के रूप में अथवा शुद्ध मनोरंजन के लिए लिखी गयी हैं। नीति, एवं उपदेश के दृष्टांत के रूप में इन कहानियों की रचना हुई है और धार्मिक ग्रथों में यह कहानियाँ प्रचुरता के साथ मिलेंगी। इसका कारण यह था कि कहानी का क्षेत्र उस समय समझा गया, भावनात्मक नहीं।

कहानी स्वयम् में कल्पना की गति पर आधारित होने के कारण एक कला है, और अज्ञात रूप में काव्य में कहानी को माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। पर कहानी की कला का विकास, कहानी में बौद्धिक तत्त्व की प्रमुखता के कारण बहुत धीरे-धीरे हुआ है। संस्कृत के महान् आचार्यों के सामने कहानी की महत्ता कला के रूप में प्रकट नहीं हुई थी, पर उसके प्रभाव को स्वीकार करते हुए उसे विशेष परिस्थिति में काव्य का भाग मान लिया गया था। महाकाव्यों में, नाटकों में—हर जगह कविता के साथ कहानी जुड़ी हुई मिलती है। नाटकों में तो विशुद्ध रूप से कहानी आधार मानी जाती है, फिर भी कहानी की अपेक्षा कविता की महत्ता अधिक मानी गयी है उन नाटकों में। क्योंकि नाटककार कहानी-कार के रूप में अपने को प्रकट नहीं करता था, वह तो अन्य किसी की कहानी को आधार बना कर नाटक की रचना करता था, उसकी रचना तो काव्य की होती थी। यह काव्य अधिकांश में पद्य में होता था, वैसे कथोपकथन के रूप में आवश्यकतानुसार यदा-कदा गद्य का प्रयोग संस्कृत नाटकों में मिलता है।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, प्राचीन कविता हमें अधिकांश में महाकाव्यों एवं नाटकों के रूप में मिलती है लेकिन इस समस्त प्राचीन कविता का आधार लय-युक्त छन्द है। इस स्थान पर कुछ विद्वान् यह

कहेंगे कि प्राचीन आचार्यों ने काव्य अथवा कविता का आधार रस माना है, छन्द नहीं। इस कथन में लोग एक गलती कर जाते हैं। 'काव्य' शब्द रस का पर्यायी है, काव्य और रस अलग-अलग संज्ञाएँ नहीं हैं। "काव्यं रसात्मकं वाक्यम्" वाली उक्ति से यह स्पष्ट है कि जिस वाक्य में रस हो वही काव्य है। अर्थात् काव्य और रस एक ही संज्ञा हैं। इस रस को उत्पन्न करने का साधन छन्द है जो आवृत्ति वाली लय से बना है। भावना को वहन करने का माध्यम लय है। इस प्रकार काव्य का आधार बाद में छन्द मान लिया गया। बहुत प्राचीन काल से काव्य और छन्द पर्यायी माने जाने लगे हैं।

लय और शब्द के योग से कविता बनती है जहाँ शब्द उपकरण है और आधार लय है। इस स्थान पर मैं एक ऐसी बात कह रहा हूँ जो प्राचीन आचार्यों की बात से कुछ भिन्न है। जिसे मैं सृजनात्मक या भावनात्मक साहित्य कहता हूँ उसे प्राचीन आचार्यों ने काव्य माना है, अर्थात् उन्होंने काव्य और रस को एक रूप में देखा है। वैसे हमारा समस्त जीवन ही भावना से युक्त है, पर भावना को रूप देने की प्रकिया को हम कला कहने लगे हैं।

साहित्य के दो पक्ष होते हैं—एक तो सृजनात्मक पक्ष जिसे प्राचीन आचार्यों ने काव्य का नाम दिया है और दूसरा विवेचनात्मक एवं आलोचनात्मक पक्ष, या फिर यदि उसे शास्त्रीय पक्ष कहा जाय तो अधिक स्पष्ट होगा। यह शास्त्रीय पक्ष पाण्डित्य और ज्ञान का बोधक है और इसलिए यह पक्ष भावनात्मक न होकर बौद्धिक है। आचार्यों ने जिसे काव्य कहा है वह, जिसे हम कविता कहते हैं, उससे बिल्कुल भिन्न है। पर काव्य और कविता शब्द इस हद तक एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं कि इन दोनों के एक होने का भ्रम हो जाता है। नाटक काव्य है, पर वह कविता नहीं है; इसी प्रकार कादम्बरी जो संस्कृत साहित्य का उपन्यास है, उसे काव्य नाम से सम्बोधित किया गया है। इसलिए प्राचीन आलोचनात्मक परिपाटी से हट कर मैं रस-बोध के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग नहीं करूँगा। उसे मैं केवल 'सृजनात्मक साहित्य' की ही संज्ञा देना उचित समझता हूँ।

कविता से पृथक् गद्य को भावनात्मक बनाने के लिए वर्तमान युग में कहानी का माध्यम प्रमुखतः माना जाता है; वैसे निबन्ध भी सृजनात्मक साहित्य में माना जाता है। कहानी में जो चरित्र-चित्रण की प्रक्रिया है, उसी में भावना का स्रोत है। पर कहानी में चरित्र-चित्रण

में जो कल्पना की गति है उसे प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट-रूप से नहीं देखा। कहानी का विकास तो नवीन युग की उपलब्धि है। प्राचीन काल में साहित्य में आने वाली कहानियों का रस की सृष्टि में सहारा भर लिया जाता था, कहानी से रस की सृष्टि नहीं की जाती थी। कहानी का स्वयम् में साहित्य के क्षेत्र में कोई बल स्वीकार नहीं किया जाता था, वह कहानी केवल रस के समावेश का माध्यम समझी जाती थी। महत्ता लययुक्त शब्दों को तथा लय, शब्द और ध्वनि को सजाने वाले अलंकारों को दी जाती थी।

कविता को आसानी से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम स्फुट कविता जिसमें कोई कहानी नहीं होती, दूसरी कहानी युक्त कविता जिसे संस्कृत में प्रबन्ध-काव्य कहा जाता है। कविता का आदि रूप मेरे मत से स्फुट कविता है क्योंकि जहाँ तक मेरा अनुमान है कविता का जन्म संगीत के साथ-साथ गीतों के रूप में हुआ है। गीतों में प्रधानता लय की होती है और स्वर के निकटस्थ ध्वनि की होती है। पर यह गीत संगीत और नृत्य कलाओं की भाँति अस्थायी होते हैं क्योंकि गीतों की भावना में आवेग अधिक होता है। भावना का आवेग क्षणिक होता है, उसे स्थायित्व प्रदान करते हैं बौद्धिक गम्भीरता और संतुलन। ध्वन्यात्मक अलंकारों को छोड़कर जितने अलंकार हैं वे सब बौद्धिकता से युक्त हैं।

लेकिन यह बौद्धिकता भावनात्मक है—इसे भावना से मुक्त किसी भी हालत में नहीं कहा जा सकता। सृजनात्मक कलाकारों में ये अलंकार स्वतः बौद्धिकता के अचेतन अथवा अर्धचेतन प्रभाव से आते रहते हैं क्योंकि अचेतन अथवा अर्धचेतन अवस्था में बुद्धि स्वयम् भावना के अन्तर्गत आ जाती है। जहाँ बौद्धिकता चेतन रूप में आयी वहीं वह भावना से अलग हो गयी।

मानव के बौद्धिक विकास के साथ इस स्फुट कविता ने गीत की सीमा तोड़ कर उक्तियों का सहारा लिया। यही नहीं, बुद्धि के विकास के साथ ज्ञान की अभिवृद्धि हुई, विवेक की अभिवृद्धि हुई और मानव शरीर-तत्त्व से ऊपर उठ कर आत्मा-तत्त्व की महत्ता अनुभव करने लगा। और इसी लिए कला जन से ऊपर उठकर बौद्धिक प्राणियों में स्थायित्व ग्रहण करने लगी।

प्राचीन संस्कृत साहित्य की स्फुट कविता में हमें गीतों की अपेक्षा उक्तियों के दर्शन अधिक होते हैं। इसके ये अर्थ नहीं कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में गीत लिखे ही नहीं गए होंगे, कुछ ऐसा लगता है कि विशुद्ध

भावना के आवेग वाले गीत काल और परिस्थिति की सीमा को तोड़कर स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सके जब कि उक्तियों में बौद्धिकता के योग से भावना काल और परिस्थितियों की सीमा तोड़ने में सफल हुई।

काल और परिस्थिति की सीमा तोड़ने में सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है प्रबन्ध-काव्य को क्योंकि प्रबन्ध-काव्य में कविता के साथ कहानी तत्त्व भी जुड़ा रहा है, वह कहानी तत्त्व कितना भी शिथिल और अविकसित क्यों न रहा हो। कहानी के प्रति मानव में एक स्वाभाविक अभिरुचि रही है, यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने कहानी को कला के रूप में स्वीकार नहीं किया, कहानी का उपयोग उन्होंने दृष्टान्तों और प्रतिपादनाओं के रूप में ही किया है। और इसी लिए कहानी का सम्बन्ध कला की अपेक्षा धर्म से अधिक माना गया है। मेरे इस कथन की पुष्टि पौराणिक कथाओं, जातक की कथाओं तथा हितोपदेश की कथाओं में मिलेगी। पर प्रबन्ध-काव्य में कहानी को प्रमुखता तो मिलती ही है, और इस लिये इस कहानी तत्त्व के कारण प्रबन्ध-काव्य काल और परिस्थिति की सीमा तोड़ने में सफल हुआ।

जिस प्रकार समय-समय पर स्फुट कविताओं के रूप बदलते रहते हैं, उसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य के रूपों में भी परिवर्तन होता रहा है। पर सामाजिक मान्यताओं, विश्वासों और स्थापनाओं के कारण प्रबन्ध-काव्य शास्त्रीय बन्धनों में अधिक बँध गया और इसलिए प्रबन्ध-काव्यों के रूप वाला परिवर्तन बहुत अस्पष्ट और संयत है। सम्भवतः यही कारण है कि वर्तमान युग में प्रबन्ध-काव्य लिखने की प्रथा धीरे-धीरे घटती जा रही है क्योंकि स्थापित शास्त्रीय प्रतिबन्धों को तोड़ कर प्रबन्ध-काव्यों के नवीन रूपों की स्थापना करने का साहस बहुत कम लोगों में हुआ करता है।

प्रबन्ध-काव्य मुक्त-काव्य की अपेक्षा अधिक बैद्धिक है, इसलिए उसका तत्कालिक भावनात्मक प्रभाव मनुष्य पर उतना अधिक नहीं पड़ता जितना मुक्त-काव्य का पड़ता है। मुक्त-काव्य के अन्तर्गत गीत आते हैं, उक्तियाँ आती हैं, पद आते हैं लेकिन मुक्त-काव्य के पास कहानी का बल न होने के कारण उसका जीवन अधिक नहीं होता। फिर मनुष्य बौद्धिक प्राणी है, वह बौद्धिक तत्त्व को ही स्थायी महत्त्व देता है। भावना तो बनती-मिटती रहती है। महाकाव्य और नाटकों में केन्द्रित कविता ही जीवित रहने की सामर्थ्य रखती है। इसका स्पष्ट उदाहरण सूरदास और तुलसीदास की कविताओं में मिलता है। जहाँ सूरदास की एक समय महान् और सशक्त समझी

जाने वाली कविता आज के युग में लोप-सी हो रही है वहाँ तुलसीदास के रामचरित मानस का विश्व भर में प्रचार हो रहा है।

आज का युग कविता का युग नहीं है—अकसर यह बात सुनने को मिलती है। इस कथन में बहुत बड़ा सत्य है और वह सत्य स्पष्ट तब होगा जब हम यह कह दें कि आज का युग प्रबन्ध-काव्य का युग नहीं है। यदि हम काव्य की प्राचीन परिभाषा को सामने रक्खें तो हम यह कह सकते हैं कि प्रबन्ध-काव्य में पद्य का आधार गद्य ने ले लिया है। उन्पयास और नाटक दोनों ही गद्य में लिखे जा रहे हैं। साहित्य में छन्दों की लय का स्थान कल्पना की गति ने ले लिया है, भावना को वहन करने वाली गति का माध्यम छन्दों से हट कर कहानी के पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया की कल्पना में आ गया है।

फिर भी मनुष्य की आदि प्रवृत्ति के रूप में संगीत और छन्द जीवित हैं और कविता इस युग में गीतों में सिमट रही है। लेकिन गीतों में एक मुसीबत यह है कि उनमें नवीनता केवल एक स्रष्टा साहित्यकार ही भर सकता है। साहित्य का व्यवसायिक पक्ष छन्दों में निर्बल होता जा रहा है। और इसलिए कविता के क्षेत्र में कुछ अजीब समस्याएँ पैदा हो गयी हैं, कुछ नवीन धाराएँ पैदा हो गयी हैं। कविता आज के युग में बौद्धिक वादों से बँध गयी है।

वर्तमान युग में कविता की वादों के अनुसार तीन धाराएँ स्पष्ट दिखती हैं जो इस प्रकार हैं—प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और परम्परा-गत। इन तीनों धाराओं की अपनी निजी मान्यताएँ हैं, जिन्हें समझ लेना पड़ेगा।

———

आठवाँ परिच्छेद

परम्परागत-कविता—छायावाद

जिसे हम परम्परागत कविता कहते हैं उसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है, पर आज के दिन वह सिमटकर छायावाद की परिभाषा में आ गई है। वैसे परम्परागत कविता के नाम पर इस युग में जो कविताएँ लिखी जा रही हैं उनका रूप अलग-अलग है, उनके विषय अलग-अलग हैं और उनमें प्रयुक्त भाषा के मानदण्ड भी अलग-अलग हैं। परम्परागत कविता से मेरा प्रयोजन उस कविता से है जो छन्दों में लिखी गयी है और आज के आधुनिकवादों से जो अलग है। आज के आधुनिक वादों में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद आते हैं जिनका विश्लेषण मैं आगे के परिच्छेदों में करूँगा, इस स्थान पर तो मुझे केवल इतना कहना है कि इन वादों से दूर, कविता को लय पर आधारित मान कर जो कविता लिखी जाती है उसे मैं परम्परागत कविता कहता हूँ। इस परम्परागत कविता का रूप समय की गति और चेतना के साथ बदलता रहता है।

परम्परागत कविता का वर्तमान रूप कुछ दिनों पहले तक और आज भी छायावाद के नाम से सम्बोधित किया गया है, इसको सब से पहले हमें समझ लेना पड़ेगा। बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में हिन्दी में छायावाद की लहर आई, इसके पहले तक छायावाद का नाम भी लोगों ने नहीं सुना था। इधर छायावाद की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं पर उन परिभाषाओं से कम से कम मुझे तो संतोष नहीं हुआ। बीसवीं शती का आरम्भ ही वादों के साथ हुआ और इसलिए कविता को वादों से जकड़ देने की एक प्रथा-सी चल पड़ी।

आखिर यह छायावाद है क्या? प्रश्न हमारे सामने यह है। रहस्यवाद और छायावाद में दार्शनिक तत्त्वों को आधार नहीं माना जा सकता, यद्यपि कुछ आलोचकों ने इन दोनों वादों के दार्शनिक तत्त्वों पर काफी लिखा-पढ़ा है। छायावाद को समझने के लिए हमें अपनी प्राचीन कविता की धारा को समझना पड़ेगा।

शरीर तत्त्व को प्रधानता देने की प्रथा अनादिकाल से मानव-समाज में रही है क्योंकि हमें जो दिखता है वह शरीर तत्त्व है। यह शरीर तत्त्व प्राण को और भावना को वहन करता है, लेकिन यह प्राण और यह

भावनाएँ स्वयम् में शरीर-तत्त्व के माध्यम से ही अपने को प्रकट करती हैं। स्वभावतः प्राचीन कविता में, जब बौद्धिक विश्लेषण अधिक नहीं हुआ था, इस प्राण तत्त्व और शरीर तत्त्व को अलग करके नहीं देखा गया। प्रतिपादित तो भावना ही की जाती थी, लेकिन भावना को सूक्ष्म-रूप में ग्रहण करने की प्रथा नहीं रही। अपने अन्दर वाले हर्ष, उल्लास, विषाद, पीड़ा—यह सब किसी व्यक्ति या परिस्थिति से सम्बद्ध माने गए हैं। व्यक्ति से भावना को अलग करके उसे प्रतिपादित करना,यह आसान नहीं है।

वैसे हरेक भावना किसी वस्तु या परिस्थिति में मूर्त्त रहती है, पर इसमें एक बहुत बड़ा खतरा भी था, विशेषतः वहाँ जहाँ जिस वस्तु के साथ भावना सन्नद्ध की जाय उसमें एक दूसरी भावना का प्रलोभन भी हो। यह ख़तरा विशेष-रूप से प्रेम की भावना में रहता है। प्रेम और शृंगार यह दोनों साथ-साथ चलते हैं अधिकांश में। शृंगार शुद्ध रूप से शरीर-तत्त्व का भाग है जब कि प्रेम आत्मा अथवा प्राण तत्त्व की चीज है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने रसों की विवेचना करते समय 'प्रेम' को महत्त्व नहीं दिया, उन्होंने तो शृंगार-रस को ही माना है। इसका परिणाम यह हुआ कि शृंगार-रस अधिकांश में कविता का मुख्य रस होने के कारण कविता प्राण तत्त्व से अलग हो कर शरीर-तत्त्व में स्थित हो गयी थी। नख-शिख, नायिका-भेद, शृंगार रस में यह प्रमुख माने जाने लगे। रीतिकालीन कविता में तो कोई कवि तब तक मान्य न होता था जब तक नख-शिख और नायिका-भेद पर वह कोई ग्रंथ न लिखे।

अन्य रसों में भी यही हालत पैदा हो गई। वीर रस की कविता में सेनाओं के वर्णन, तलवारों का वर्णन तथा अन्य विविध चीज़ों के वर्णन प्रचुरता के साथ मिलेंगे, पर यह वीरता की भावना कहाँ केन्द्रित है, देश-भक्ति अथवा उत्पीड़न के विरोध के रूप में यह वीरता की भावना जागृत होती है, इसका उल्लेख यदा-कदा ही मिलेगा। भक्ति रस की तो रीतिकालीन कविता में और भी अधिक दुर्दशा हुई। यह भक्ति सिमट कर राधा और कृष्ण के घोर वासनामय शृंगारात्मक प्रतीक में केन्द्रित हो गयी।

वासना शारीरिक तत्त्व है—भावना आत्मिक अथवा मानसिक। अधिकांश कलाओं की वासना में केन्द्रित हो जाने की प्रवृत्ति मिलती है, शरीर अपना धर्म तो निबाहेगा ही। भारतीय कलाओं में उसके ह्रास के

काल में, वासना में केन्द्रीभूत हो जाने की प्रवृत्ति आ गयी थी। दूसरी ओर बौद्धिक चमत्कार को भी कविता में महत्त्व दिया जाने लगा था। यह बौद्धिक चमत्कार भी भावना से अति दूर भौतिक जगत की ही चीज है।

विशुद्ध भावना में कविता को केन्द्रीभूत करने की प्रवृति अठारहवीं और उन्नीसवीं शती के अंग्रेजी साहित्य में मुखर हो उठी। इंगलैण्ड में इस नवीन धारा को रोमांटिक रिवाइवल का नाम दिया गया। बायरन, शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों ने इंगलैण्ड में कुछ काल के लिए कविता की धारा ही मोड़ दी, और एक तरह से उस समय कविता में एक नवीन जागृति, कविता के प्रति एक प्रकार की नवीन आसक्ति वहाँ पैदा हो गयी।

भारतवर्ष का वह अंग्रेजों की गुलामी का काल था और अंग्रेजी भाषा तथा अंग्रेजी साहित्य का भारतीय शिक्षित वर्ग पर काफी अधिक प्रभाव पड़ रहा था। यह प्रभाव बंगाल में तो स्पष्ट-रूप के दिख रहा था, और इंगलैण्ड वाली कविता की इस नवीन धारा का प्रभाव माइकेल मधुसूदन दत्त, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि कवियों पर बहुत अधिक पड़ा।

पाश्चात्य कविता की धारा का प्रभाव हमारी उस समय की आध्यात्मिक संस्कृति पर पड़ना बहुत आसान काम तो नहीं था। हमारी यह आध्यात्मिकता एक ओर तो रहस्यात्मक और पारलौकिक थी जैसा कबीर, तुलसी, सूर, दादू आदि कवियों में दिखती है, और दूसरी ओर घोर वासनामयी होती थी जैसा जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, रसखान तथा अन्य ब्रजभाषा के कवियों में मिलती है।

इंगलैड की समस्त संस्कृति आध्यात्मिक न होकर भौतिक थी। इस भौतिक संस्कृति का भावनात्मक रूपान्तर ही तो था यह रोमेन्टिक रिवाइवल। हमारे देश में यह रूपान्तर कुछ महत्त्वपूर्ण आधारमूल परिवर्तनों के साथ ही आ सकता था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उस कविता में आधारमूल परिवर्तन करके भारतीय कविता को नया मोड़ दिया। रवीन्द्रनाथ की कविता में एक और तरह की नवीनता थी, एक कुछ ऐसी बात थी जिसमें पाश्चात्य विद्वानों और आलोचकों को प्रभावित किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय सन्त-परम्परा के रहस्यवाद को अपना कर अपनी कविता को पाश्चात्य धारा के अनुसार भावनात्मक मोड़ दिया। वासनामय शरीर तत्त्व से सम्बद्ध कविता की परम्परा वाले देश में पहले तो यह कविता बड़ी उपेक्षा के साथ देखी गयी और इसका बड़ा विरोध हुआ लेकिन धीरे-धीरे पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति से प्रभावित शिक्षित वर्ग ने कविता के नवीन सत्य के रूप में

स्वीकृत कर लिया, और रवीन्द्रनाथ की कविता का प्रभाव अकेले बंगाली कविता ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं की कविता पर भी बहुत अधिक पड़ा। भारतवर्ष की प्रायः समस्त भाषाओं की कविता पर रवीन्द्रनाथ की कविता के एक छत्र प्रभाव का एक कारण और है, वह है रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबल पुरस्कार की प्राप्ति।

जैसा कि मैं निवेदन कर चुका हूँ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस पाश्चात्य रोमान्टिक रिवाइवल की धारा को जैसा का तैसा नहीं अपनाया, उन्होंने उसमें आमूल परिवर्तन किये। इस भावनात्मक धारा को अध्यात्म का रंग देकर उन्होंने विश्व-साहित्य को एक अनूठी चीज दी और विश्व के आलोचकों तथा विद्वानों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रतिभा और उनकी महानता स्वीकार कर ली। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन परम्परा वाली भारतीय कविता के विद्वानों का विरोध दब गया, नवीन शिक्षा और चेतना के साथ आगे बढ़ने वाले शिक्षित युवक समुदाय ने रवीन्द्रनाथ का अनुकरण और अनुसरण किया।

हिन्दी में छायावाद का जन्म इन्हीं ऐतिहासिक कारणों से हुआ है। आरम्भ में यह प्रभाव बंगाली भाषा के माध्यम से आया। रविबाबू को देश के गौरव के रूप में स्वीकार किया गया। पर बाद में यह प्रभाव सीधे अँग्रेजी-साहित्य से आया। इस छायावाद में और इसके पहले वाली कविता में विषय का बहुत बड़ा अन्तर था। जहाँ इसके पहले वाली कविता में भावना की अपेक्षा शरीर अथवा रूप को प्रधानता मिलती थी वहाँ छायावाद में भावना को इस क़दर प्रधानता मिलने लगी कि उससे शरीर-तत्त्व का एक प्रकार से अभाव-सा दिखने लगा। हमारे प्राचीन कविता-प्रेमियों एवं आचार्यों को इस नई कविता का अर्थ समझाने में कठिनाई पड़ी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबल पुरस्कार मिलने के कारण जनमत इस नई कविता के पक्ष में हो गया था और इसलिए प्राचीन पण्डितों और आचार्यों का विरोध सफल नहीं हो पाया।

छायावाद की कविता के आने के पहले हिन्दी कविता का रूप बड़ा विकृत हो गया था। नवीन चेतना के कारण रीतिकालीन कविता के प्रति जन-समुदाय में अनास्था पैदा हो गयी थी। वासना के विभिन्न तत्त्वों को, तथा बौद्धिक शब्दजाल को लोगों ने स्वीकार करना बन्द कर दिया था। नवीन चेतना और दृष्टिकोण पाश्चात्य शिक्षा एवं सम्पर्क के कारण लोगों में आ रहे थे और कविता का विषय एक बार ही बदल गया। यही नहीं, कविता की भाषा भी उन्हीं दिनों बदली। ब्रजभाषा का स्थान

खड़ी बोली ने ले लिया क्योंकि हम पद्य के युग से निकल कर गद्य के युग में आ गए थे और हिन्दी गद्य ने खड़ी बोली को अपना लिया था। गद्य-युग के आरम्भ होने पर हिन्दी-साहित्य की स्थिति कुछ विचित्र-सी हो गयी थी। हिन्दी-साहित्य के पास व्रजभाषा में लिखा हुआ कविता का अनन्त भाण्डार था, और कविता की भाषा की हैसियत से व्रजभाषा का रूप निखर चुका था। जब कि गद्य की नवीन भाषा होने के कारण खड़ी बोली घुटनों के बल चल रही थी।

इसका परिणाम यह हुआ कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग में गद्य की भाषा तो खड़ी बोली स्वीकृत हो गयी थी लेकिन कविता की भाषा ब्रजभाषा ही मानी जाती रही।

पर साहित्य में भाषा के दो रूपों का अस्तित्व सम्भव नहीं था और लोगों ने कविता भी खड़ी बोली में लिखनी आरम्भ कर दी। पर खड़ी-बोली में इतना बल न था कि वह भावनात्मक-रूप में अपने को आरोपित कर सकती। वह तो बौद्धिक विकास के क्रम में थी और कविता की वस्तुवादी परम्परा भी मौजूद थी। इसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद के आने के पहले तक खड़ी बोली में जो भी हिन्दी कविता लिखी गयी, उसमें प्राणतत्व का नितान्त अभाव दिखता है। वह कविता वर्णनात्मक अथवा प्रचारात्मक ही हो पाई, भावनात्मक नहीं हो पायी।

छायावाद के साथ हिन्दी में एक नवीन धारा चली। छायावाद की कविता अपने अत्यन्त अल्पकाल में ही हिन्दी की प्रतिनिधि कविता बन गयी और जनता ने उस कविता को भावनात्मक रूप में ग्रहण भी किया। पर छायावाद के अन्तर्गत गिनी जाने वाली हरेक कविता में दार्शनिक तत्त्व का होना आवश्यक नहीं। यह दार्शनिक तत्त्व कुछ कवियों की कविता में मिल सकता है, अधिकांश में इसका अभाव है। आरम्भ में छायावाद और रहस्यवाद को एक रूप ही माना गया, बाद में रहस्यवाद को छायावाद से अलग करना पड़ा। जहाँ रहस्यवाद दार्शनिक अनुभूतियों के साथ चलता है वहाँ छायावाद में केवल भावनात्मक व्यक्तीकरण है।

आरम्भ में छायावाद ने शरीर तत्त्व की उपेक्षा की पर धीरे-धीरे शरीर-तत्त्व उस कविता मे प्रचुरता के साथ आता गया। लेकिन छायावाद में प्रमुखता आत्मतत्त्व अथवा भावना पक्ष को ही दी जाती है। यह छायावाद नवीन भारत की चेतना के प्रतीक-रूप में अवतरित हुआ।

आज के दिन, जब दो नवीन वाद—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद--साहित्य में प्रवेश कर चुके हैं, हिन्दी कविता में प्रमुखता छायावाद की

ही है। और इसलिए मैं, जिसे हम छायावाद की कविता कहते हैं उसे परम्परागत कविता ही मानता हूँ। कविता की सभी मान्यताएँ इस कविता में मौजूद हैं—लय, छन्द, अनुप्रास और अलंकार। केवल विषय का परिवर्तन हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि छन्दों में भी परिवर्तन हुआ है, लेकिन उनका यह कथन अर्ध सत्य है। परिवर्तन विकास-क्रम का ही एक भाग है और छन्दों में परिवर्तन तो अनादिकाल से होते आए हैं। संस्कृत के छन्दों में तथा अवधी के दोहा-चौपाई और ब्रजभाषा के घनाक्षरी और सवैया में छन्दों का कितना अन्तर है। ये छन्द समय की गति के साथ बदलते रहते हैं।

एक प्रश्न और हमारे सामने खड़ा हो जाता है—क्या छायावाद की कविता में प्रबन्ध-काव्य लिखा जा सकता है? जयशंकर प्रसाद का आँसू छायावाद में लिखा हुआ प्रथम खण्ड काव्य अथवा प्रबन्ध-काव्य है। 'आँसू' का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है, कविता के क्षेत्र में इस प्रबंध-काव्य की महत्ता स्वीकार की जाएगी, यह अभी अनिश्चित है। छायावाद की वास्तविक प्रतिनिधि कविता है। वह अधिकांश में छोटे-छोटे गीतों में या लिरिक में ही प्रभावशालिनी हो सकती है, जहाँ भावना बिना किसी ठोस आधार के प्रस्तुत की जाती है। प्रबन्ध-काव्य में ठोस धरातल पर आना पड़ता है। पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि 'आँसू' का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जिस समय छायावाद की परम्परा ठोस धरातल वाले प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में प्रवेश करती है, वह दर्शन से बोझिल हो जाती है। प्रसाद की कामायिनी इस सत्य का एक बहुत स्पष्ट उदाहरण है। कामायिनी अपने दर्शन के कारण जन-साधारण में प्रचलित नहीं हो सकी उस अर्थ में जिसमें जायसी का पद्मावत और तुलसीदास का रामचरित मानस आते हैं। प्रबन्ध-काव्य के वास्ते तो श्री मैथिलीशरण गुप्त की परम्परागत कविता ही सफल माध्यम बन सकती है—साकेत और यशोधरा इसके अच्छे उदाहरण हैं। श्री सुमित्रानन्दन पंत ऐसे सशक्त और प्रतिभावान् कवि के लिए भी प्रबन्ध-काव्य की पृष्ठभूमि कठिन ही सी दिखती है, उनकी प्रबन्ध-काव्य के नाम पर लिखी गई हाल की लम्बी कविताओं में दर्शन प्रमुख हो जाता है।

पर जैसा मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ, यह युग प्रबन्ध-काव्य का युग ही नहीं है। सम्भवतः इसीलिए वर्तमान परम्परागत कविता छायावाद में सिमट कर रह गयी है। छायावाद में प्रमुखता रहती है आत्मगत

भावना की। छायावाद की शैली में नित्य नवीन रूपान्तर हो रहे हैं और बहुत सम्भव है आत्मगत भावना को अपना कर भविष्य में कोई प्रबन्ध-काव्य लिखा जाय; पर वस्तुगत भावना को व्यक्त करने के लिए गद्य जितना सशक्त और सफल माध्यम बन चुका है उसे देखते हुए छायावाद शैली में प्रबन्ध-काव्य की रचना अनिश्चित ही दिखती है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि साहित्य की मान्यताओं पर विचार करते समय मेरे सामने साहित्य का व्यावसायिक पक्ष ही है। और व्यावसायिक रूप में कविता की माँग तीन स्थानों में है। प्रथम आता है कवि-सम्मेलन। भारतवर्ष में और विशेषत: हिन्दी में कवि-सम्मेलन की परम्परा बहुत पुरानी है। यह कवि-सम्मेलन जन-मनोरंजन के प्रमुख साधन हैं। लेकिन कवि-सम्मेलनों में पसन्द की जाने वाली कविताओं का स्तर बहुत ऊँचा नहीं होता, हो भी नहीं सकता। उदात्त भावना को समूह आसानी से ग्रहण नहीं करता, समूह को तो चाहिए तत्काल उसके मन को छू लेने वाली भावना। लय-छन्द के साथ-साथ इस तत्काल मन को छू लेने वाली भावना को और भी कुछ अधिक साधन चाहिये। इन साधनों में महत्ता मिलती है सुरीले कंठ को, मंच पर सफल अभिनय को तथा जनता को उकसाने वाले अथवा हँसाने वाले विषयों को। लेकिन छायावाद की लम्बी कविता इन कवि-सम्मेलनों में अधिक सफल नहीं होती। हाँ, गीतों को प्रमुखता मिलती है तब जब वे गाकर पढ़े जाँय।

कविता की दूसरी माँग है गीतों के रूप में और यह माँग सिनेमा तथा रेडियों में विशेष-रूप से दिखती है। प्रचार कार्य के लिए विभिन्न सरकारी विभाग भी गीत लिखाते हैं, और विज्ञापनों के तौर से भी कविताओं की माँग होने लगी है। पर इस प्रकार के व्यावसायिक-गीतों की अपनी एक सीमा है, अपना एक क्षेत्र है। सफल कवि जो भी गीत लिखता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, लेकिन व्यावसायिक मान्यताएँ बदलती रहती हैं। पर एक बहुत बड़ा समुदाय ऐसा है जो नए-नए गीतों के प्रति आकृष्ट होता है, और कविता-पुस्तकों की जो भी थोड़ी-बहुत बिक्री होती है, उनमें अच्छी गाई जा सकने वाली कविता को ही महत्त्व मिलता है।

कविता की तीसरी और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माँग है पाठ्य-पुस्तकों में। कविता की नवीन धारा का अध्ययन करने के लिए उन्हें वर्तमान कवियों की कविताएँ पढ़ना आवश्यक हो जाता है। पर पाठ्य-

पुस्तकों में हरेक व्यक्ति की कविता तो सम्मिलित नहीं की जा सकती, कुछ इने-गिने लोगों की ही कविता चलती है।

कविता का यह व्यावसायिक पक्ष अनादिकाल से मौजूद रहा है। भावना के उदात्तीकरण की सीमा तक भावनात्मक मनोरंजन कविता को स्थायित्व प्रदान कर सकता है, वैसे वासना को भड़काने वाली कविताएँ भी जन-साधारण में बड़ी प्रिय होती हैं, पर इस कविता का जीवन स्वल्प होता है और वह बड़ो जल्दो समाज द्वारा बहिष्कृत कर दी जाती हैं। हमारे लोकगीतों में इस वासना-प्रधान भोंड़ी और अश्लील कविताओं को प्रचुरता के साथ पाया जा सकता है, शिष्ट-साहित्य में परिष्कृत सामाजिक मान्यताओं के कारण इस प्रकार की कविता के पैर नहीं जमने पाते। फिल्मों में जो गीत सेंसर कर के काट दिये जाते हैं, उनमें लोक-रुचि वाली यह अश्लीलता और भोंडान ही सब से बड़ा कारण है।

व्यवसाय में खरा माल और खोटा माल, दोनों ही चलते हैं, अन्तर केवल इतना है कि खरा माल अपना स्थान जमा लेता है, खोटा माल बहुत जल्दी लोग छोड़ दिया करते हैं। कविता भी व्यवसाय के इन नियमों से बँधी हुई है।

परम्परागत कविता लिरिक में और गीतों में सिमट रही है, काल और परिस्थिति ने साहित्यिक मान्यताओं में आधार मूल परिवर्तन कर दिये गए हैं। वैसे व्यक्तिगत भावना समय-समय पर अपना विस्फोट चाहती है, और कभी-कभी यह व्यक्तिगत भावना एक छोटे गीत में नहीं सिमट पाती। इसलिए लम्बी और केवल पढ़ी जाने वाली कविताएँ लिखी जो जाएँगी, उनका विशेष व्यावसायिक महत्त्व न होगा। कविता साहित्य का महत्त्वपूर्ण पहलू होते हुए भी अब व्यावसायिक पहलू नहीं रह गयी है, उसको माध्यमिक महत्व ही मिल सकता है। भविष्य के साहित्य में प्रमुख महत्त्व वह खो चुकी है।

———

नौवाँ परिच्छेद

प्रगतिवाद—उपयोगिता अथवा प्रचार

बीसवीं शती समाजवाद की शती कहला सकती है, और समाजवाद परम्परागत मान्यताओं को बहुत बड़ी चुनौती के रूप में अपने को स्थापित करता जा रहा है। यह कहना कठिन है कि समाजवाद अपने को पूर्ण रूप से दुनिया में स्थापित कर सकेगा, या वह प्राचीन मान्यताओं को धीरे-धीरे अपनाता हुआ विश्व के विकास-क्रम का ही एक भाग बन जायगा। समाजवाद में सामाजिक सत्य का बहुत जबर्दस्त पहलू है, लेकिन यह सामाजिक सत्य मुझे तो एकांगी दिखता है। उन देशों में जहाँ समाजवाद अपने को स्थापित कर चुका है, समाजवाद की मान्यताओं में आधार-मूल परिवर्तन आरम्भ हो चुके हैं।

समाजवाद की सबसे अधिक अकाट्य मान्यता है—उपयोगितावाद। यह उपयोगितावाद सामाजिक सत्य है और इसी उपयोगितावाद के सिद्धान्त पर समाज की स्थापना हो सकी है।

बीसवीं शती के तीसरे दशक में समाजवाद को जन तक पहुँचाने के लिए साहित्य का सहारा लेने वाले एक नवीन आन्दोलन का रूस में जन्म हुआ और धीरे-धीरे इस आन्दोलन ने साहित्य की मान्यताओं पर अपना प्रभाव डाला। इस आन्दोलन को जन्म देने वाला सिद्धान्त धीरे-धीरे समाजवादी देशों का साहित्यिक सत्य बन गया और उन देशों में जो भी साहित्य लिखा गया वह इसी-सिद्धान्त पर। यही नहीं, शासन ने उस साहित्य के लेखक और प्रकाशन पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये, और साहित्य को उन्होंने शासन द्वारा निर्धारित कानूनों से बाँध दिया।

इस आन्दोलन का उद्देश्य आदि में था उत्पीड़ित और शोषित वर्ग में चेतना उत्पन्न करना, तथा शोषकों और उत्पीड़कों के प्रति घृणा और आक्रोश का प्रचार। यह दोनों ही उद्देश्य मानवता के लिए उपयोगी हैं, और मानव-विकास में इनका महत्व है। स्वभावत: इस आन्दोलन को आरम्भ में आशातीत सफलता प्राप्त हुई क्योंकि चेतन साहित्यकार स्वयम् में उत्पीड़न और शोषण का विरोधी था। लेकिन इस आन्दोलन के जड़ में एक और भावना निहित थी, वह थी इस आन्दोलन द्वारा विश्व के साहित्यकारों में समाजवाद का प्रचार। धीरे-धीरे यह भावना स्पष्ट होती गयी

और बाद में उन साहित्यकारों ने जिन्हें सक्रिय राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी, अपने को इस आन्दोलन से अलग कर लिया।

प्रगतिवाद का सबसे बड़ा बल है उसकी उपयोगिता और जन-कल्याण के प्रति आस्था। साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन और आनन्द अवश्य है, लेकिन हम साहित्य सृजन करने वाले और साहित्य को ग्रहण करने वाले सबसे पहले सामाजिक प्राणी हैं। हमारा अस्तित्व आत्मगत अवश्य है लेकिन हमारे सामाजिक प्राणी होने के नाते वह वस्तुगत भी है। नित्य प्रति विकसित होने वाले तथा विकास के इस क्रम में संघर्ष-शील हमारी सामाजिकता प्राचीन मान्यताओं को छोड़ कर नवीन मान्यताओं को अपनाती चली जाती है। आज व्यक्ति-स्वातन्त्र्य बड़े सीमित अर्थों में ही स्वीकार किया जा सकता है।

यही नहीं, वैज्ञानिक विकास के साथ उसका भावनात्मक पक्ष बुरी तरह जुड़ा हुआ है, यह सत्य लोगों को भासित हो गया है और इसलिए साहित्य का सहारा हरेक निर्माण और विकास के काम में अनिवार्य समझा जाने लगा है। योरोप में नवीन सामाजिक और राजनीतिक चेतना में साहित्य ने बहुत बड़ी सहायता की है—योरोपीय साहित्य पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है। यही नहीं, राजनीतिक तथा सामाजिक दर्शन स्वयम् में बौद्धिक हैं, यह बौद्धिक जन-साधारण को मान्य हो सकें, इसके लिए इनका भावनात्मक-प्रतिपादन आवश्यक है। यह भावनात्मक प्रतिपादन कला और साहित्य का क्षेत्र है।

भावना स्वयम् में न बुरी होती है, न अच्छी होती है, और इसलिए हमारे प्राचीन समाज में भावना के व्यक्तीकरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाए गए थे, और अगर असामाजिकता या अश्लीलता को रोकने के लिए कभी प्रतिबन्ध लगे भी तो वह बहुत ढीले थे। पर यह जो समाजवाद के आधार पर नवीन समाज की स्थापना का कार्यक्रम उठाया गया, यहाँ क्रमिक-विकास का क्रम नहीं था यह तो क्रान्ति की अवस्था थी। क्रान्ति के समय की मान्यताएँ हमारी प्रचलित मान्यताओं से भिन्न हुआ करती हैं। क्रान्तिकारी परिवर्तन की अवस्था में प्रतिबन्ध नितान्त आवश्यक माने जाते हैं, कोई भी ऐसी बात नहीं की या कही जा सकती जिससे क्रान्ति की सफलता में बाधा पहुँचे। क्रान्ति का अस्त्र हिंसा हुआ करता है और यह हिंसा उन प्रतिबन्धों पर लागू करने में बरती जाती है।

समाजवादी देशों में प्रतिबन्धों का सहारा तो लिया ही गया साहित्य के सृजन में, लेकिन एक क्रम और अपनाया गया समाजवादी क्रान्ति को

सफल बनाने के लिए, और यह क्रम बड़ा दिलचस्प था। इस क्रम को अँग्रेजी में Regimentation of thought कहते हैं। इसका अर्थ हिन्दी में हुआ विचारों का केन्द्रीकरण। इस क्रम से विचारों को केवल एक निर्धारित-धारा में चलना चाहिए, दूसरी धारा वर्जित है।

प्रतिबन्ध का रूप नकारात्मक होता है। वह यही करता है कि अमुक बात न हो। लेकिन यह विचार का केन्द्रीकरण स्वीकारात्मक है--इसमें विचार की एक धारा निर्धारित कर दी जाती है, और उसी धारा में हरेक व्यक्ति के विचार को चलना पड़ता है। उस निर्धारित-धारा में जो विचार नहीं आता, वह वर्जित है।

इस क्रम के विरुद्ध यह आरोप कि यह मानसिक गुलामी का क्रम है, सही दिख सकता है, लेकिन हमें इस आरोप पर विचार करते समय काल और परिस्थिति पर ध्यान रखना पड़ेगा। विचारों पर नियन्त्रण तो हर काल में और हर समाज में आवश्यक माना गया है क्योंकि विचारों की विशृंखलता, अराजकता और असामाजिकता के द्योतक हैं। यह नियन्त्रण स्वयम् में गुलामी का लक्षण है; लेकिन हमारा समस्त अस्तित्व ही प्रतिबन्धों से जकड़ा हुआ है। ऐसी हालत में यदि क्रान्ति काल में विचारों की धारा यदि क्रान्ति के उन्नायक निर्धारित कर देते हैं तो इसमें कोई ऐसी आपत्तिजनक बात नहीं दिखती। पर यह व्यवस्था अल्पकालीन ही हो सकती है क्योंकि क्रान्ति स्वयम् में अल्पकालीन मानी जाती है। इस व्यवस्था को हमेशा के लिए लागू कर देना एक तरह की नई गुलामी को जन्म देना है जिसे मानव-समाज स्वीकार नहीं कर सकता।

फिर एक प्रश्न और हमारे सामने खडा हो जाता है—विचारों की धारा को निर्धारित करने का अधिकार किसे है? उत्तर स्पष्ट है, यह अधिकार उसे है जो सत्ता रूढ़ है। सत्तारूढ़ व्यक्ति हो सकता है, सत्ता-रूप समुदाय हो सकता है। समाजवादी क्रान्ति के इतिहास को देखने से पता चलता है कि सत्तारूढ़ प्रायः व्यक्ति ही हुआ करता है, और इस-लिए समाजवाद का अब तक का इतिहास डिक्टेटरों (तानाशाहों) का इतिहास रहा है।

इस एक व्यक्ति और उसके समर्थक छोटे से समुदाय द्वारा निर्धारित मान्यताएँ और कार्यक्रम समस्त समाज का सत्य बन जाय, यह स्थिति समाज के विकास के लिए घातक हो सकती है। समय ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह सम्भव नहीं, और आज के दिन रूस में इस Regimentation of thought के नियम स्वयम् ही ढीले हो गए हैं।

प्रगतिवाद की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि उसने निषेधात्मक प्रतिबन्धों के क्षेत्र से उठकर कुछ मान्यताओं को आधार मूल सत्य की तरह जनता और लेखकों पर आरोपित करने का प्रयत्न किया। वैसे यह मान्यताएँ अधिकांश में कल्याणकारिणी रही हैं, इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती—पर कल्याण के माप-दण्ड भी तो मानव-समाज के विकास के साथ बदलते रहते हैं। आरोपित करने की प्रक्रिया स्वाभाविक विकास के लिए घातक हुआ करती है और शायद इसीलिए प्रगतिवाद के नाम पर लिखा गया कोई भी साहित्य अभी तक महानता की कोटि में नहीं आ पाया है; भविष्य के सम्बन्ध मैं कुछ कह नहीं सकता।

प्रगतिवाद का असली रूप एक राजनीतिक-वाद है जो भावनात्मक न होकर बौद्धिक अधिक है; और यह प्रगतिवाद का बहुत बड़ा दोष है। प्रगतिवाद का साहित्य साहित्यकार की निजी भावना की उपज नहीं है। वह तो राज्य अथवा शासन द्वारा निर्देशित हुआ करता है। निर्देशन पर चलना बुद्धि का काम है, भावना का काम नहीं है। वैसे साहित्य का उपकरण शब्द हैं और शब्द स्वयम् में बौद्धिक संज्ञा है लेकिन साहित्य का क्षेत्र भावना का क्षेत्र है, बुद्धि का क्षेत्र नहीं है। प्रगतिवाद के साहित्य की रचना अधिकांश में निर्देशन पर होती है, और स्वभावतः साहित्यकार में बौद्धिक रूप से उस साहित्य में भावना को समाविष्ट करना पड़ता है।

पर आखिर बौद्धिकता का इतना विरोध क्यों? अचानक यह प्रश्न मेरे सामने खड़ा हो जाता है। कला अथवा साहित्य के व्यावसायिक पक्ष को देखते हुए मुझे बौद्धिकता का विरोध कुछ अजीब-सा लगता है। इस वस्तु-जगत् में जहाँ कला का मूल्य पैसों में आँका जाता है, कलाकार या साहित्यकार को अन्य व्यक्तियों की रुचि के अनुसार ही तो अपनी कला का प्रदर्शन करना पड़ता है। प्राचीन रीतिकालीन कवियों ने क्या अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी मनचाही कविता नहीं लिखी? प्रगतिवाद की कविता में यदि कलाकर की भावना बौद्धिक निर्देशन को छू सके तभी समर्थ और प्रभावशाली साहित्य बन सकेगा, अन्यथा नहीं।

प्रगतिवाद का साहित्य प्रचारात्मक साहित्य है, इस बात पर प्रगतिवाद के प्रवर्तक तथा उसके अनुयायी आपत्ति कर सकते हैं, लेकिन मैं उनसे केवल इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं यह बात किसी दुर्भावना से मिथ्या आरोप के रूप में नहीं कह रहा हूँ और न मैं इस प्रकार के साहित्य की निन्दा ही कर रहा हूँ। प्रचार की प्रक्रिया को दोषपूर्ण कौन कह सकता है, हम सब अपने प्रचार में दिन-रात संलग्न रहते हैं। हम जो

कुछ भी कहते हैं, जो कुछ भी लिखते हैं, वह सब अपने दृष्टिकोण और अपने मत के प्रचार के लिए ही तो करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि इस स्थान पर हम अपने भावनात्मक सत्य को प्रतिपादित करते हैं। पर हमारा यह भावनात्मक सत्य क्या वास्तव में सामाजिक सत्य बन सकता है? क्या हमारा भावनात्मक सत्य दूसरों के लिए कल्याणकारी बन सकता है? मेरा ऐसा मत है कि अपने सत्य को प्रचारित करने की अपेक्षा सामाजिक सत्य को प्रचारित करना अधिक श्रेयस्कर है।

जहाँ तक बौद्धिक प्रक्रिया का प्रश्न है, वहाँ मैं प्रगतिवाद को प्रचारात्मक प्रवृति को किसी भी हालत पर साहित्य का क्षेत्र भावना है, और भावना के क्षेत्र में मैं प्रगतिवाद को निर्बल पाता हूँ। प्रगतिवाद में भावना के उदात्तीकरण वाला क्रम नहीं है। इस बात को मुझे स्पष्ट करना पड़ेगा।

प्रगतिवाद एक राजनीतिक दर्शन है, यह दर्शन इसके प्रवर्तक के मन में भावना के रूप में ही आया होगा, लेकिन उस भावना का बुद्धि द्वारा पुष्टीकरण किया गया। अपने बौद्धिक पुष्टीकरण के कारण ही वह एक सामाजिक दर्शन बन सका और बाद में वह राजनीति में अपनाया गया। दार्शनिक प्रतिपादनाओं में मंडन की अपेक्षा खंडन अधिक होता है, और राजनीतिक दर्शन जो कार्यान्वित किया जाय, उसमें स्थापना के लिए प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था का विनाश अत्यावश्यक है। विनाश के क्रम में हिंसा और घृणा का आना भी अनिवार्य है। हिंसा और घृणा को वहन करने के लिए मनुष्य में क्रोध का होना भी आवश्यक है।

इससे यह स्पष्ट है कि प्रगतिवाद समाज की बौद्धिक व्यवस्था पर विश्वास करता है, भावना के उदात्तीकरण पर उसका विश्वास नहीं है। प्रगतिवाद एक ऐसे भौतिक दर्शन का भाग है जिसमें आस्था नहीं है, जिसमें मानव के भावनात्मक विकास पर विश्वास नहीं। समाज की आवश्यकताओं और समाज के प्रति मनुष्य के उत्तारदायित्व को स्वीकार करते हुए भी इस बात से इनकार कैसे किया जा सकता है कि समाज व्यक्तियों का समूह है, और समाज के निर्माण में तथा संचालन में वैयक्तिक प्रभाव बहुत अधिक है। मार्क्स की वैयक्तिक भावनाओं से ही तो समाजवाद का दर्शन मिला, लेनिन के व्यक्तित्व ने उस समाजवाद को एक रूप दिया। प्रगतिवाद में वैयक्तिक स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं किया जाता।

मेरा कुछ ऐसा अनुभव है कि कोई भी राजनीतिक अथवा सामाजिक व्यवस्था ईमानदार, संवेदनशील और त्याग की भावना से युक्त व्यक्ति के हाथ में अगर रख दी जाय तो जनता का उससे कल्याण होगा और

अगर वही व्यवस्था क्रूर, बेईमान, अपने में डूबे हुए आदमी के हाथ में पड़ जाय तो उसका परिणाम भयंकर होगा। दार्शनिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था जितना महत्त्वपूर्ण है उससे कुछ अधिक ही व्यवस्था को चलाने वाला व्यक्ति है। ऐसी हालत में यह भावनात्मक कला और साहित्य जो भावना के उदात्तीकरण का सबसे अधिक सक्षम और समर्थ माध्यम है, उसे राजनीतिक निर्देश से बाँध देना अन्ततोगत्वा अहितकर ही होगा। प्रगतिवाद समाजवादी देशों के दायरे के बाहर वाले देशों में जो अपना स्थान नहीं बना सका, उसका एक कारण यह भी है।

प्रगतिवाद का एक बहुत बड़ा अवगुण है असहिष्णुता। कोई दूसरी विचारधारा प्रगतिवाद के लिए वर्जित और त्याज्य है। कुछ ऐसा लगता है कि प्रगतिवाद मार्क्सवाद के आगे किसी अन्य प्रकार के बौद्धिक और सामाजिक विकास पर विश्वास ही नहीं करता।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद ने आरम्भ में दृढ़ता के साथ अपना कदम बढ़ाया। इसका कारण यह था कि जिस समय प्रगतिवाद का जन्म हुआ, हिन्दुस्तान विदेशियों की गुलामी में जकड़ा हुआ था। यद्यपि प्रगतिवाद में उस समय गुलामी के प्रति विद्रोह की कोई व्यवस्था नहीं थी, वह तो केवल वर्ग-संघर्ष को लेकर आगे बढ़ा फिर भी हमारे विदेशी-सत्ता से युद्ध में वर्ग-संघर्ष की एक अस्पष्ट-भावना अवश्य थी क्योंकि जमींदार और उच्च-मध्यवर्ग के लोग विदेशियों के साथ थे। और इसीलिए प्रगतिवाद का असली रूप आरम्भ में लेखकों और साहित्यकारों ने नहीं देखा। उस समय प्रगतिवाद की एक लहर-सी दौड़ गई थी सारे देश में।

प्रगतिवाद का असली रूप हमारे देश के सामने आया द्वितीय महायुद्ध के समय जब भारतवर्ष की कम्यूनिस्ट पार्टी ने १९४२ वाले आन्दोलन में लोक-युद्ध के नाम पर अंग्रेज शासक-वर्ग का साथ दिया। उन्हीं दिनों, या उसके कुछ बाद ही स्पष्ट रूप से प्रगतिवाद के कर्णधारों ने यह घोषित भी कर दिया कि प्रगतिवाद कम्यूनिस्ट-पार्टी का सांस्कृतिक और प्रचारात्मक पक्ष है। और उसके बाद हमारे देश में प्रगतिवाद का ह्रास आरम्भ होता है।

प्रगतिशील और प्रगतिवादी साहित्य में एक स्पष्ट अन्तर है, जिसे इस स्थान पर समझ लेना पड़ेगा। प्राचीन परम्पराओं से भिन्न नवीन मान्यताएँ स्थापित करते हुए जो भी साहित्य लिखा जाय, वह प्रगतिशील साहित्य है। इस प्रगतिशील साहित्य पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होते, हो भी नहीं सकते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साहित्य को प्रारम्भ में प्रगतिशील साहित्य कहा गया क्योंकि वह प्राचीन-परम्परा से भिन्न था। छायावादी

कवियों की कविताओं को भी कुछ लोगों ने प्रगतिशील कहा। इस 'प्रगति' शब्द में एक प्रकार का आकर्षण है, नवयुवक वर्ग को अनायास ही इस प्रगति शब्द पर एक प्रकार की आस्था हो जाती है। और प्रगति शब्द में इस सम्मोहन-युक्त आकर्षण के कारण ही समाजवादी परम्परा ने इस शब्द को अपने साहित्य के विशेषण के रूप में अपना लिया। उसका प्रयोजन यह था कि अपने सिद्धान्तों को वह सारी दुनिया में प्रगतिशील घोषित करके दुनिया में उनका प्रचार करे, और उसके विरुद्ध जो भी मत हैं उनका खंडन करे।

अपने दार्शनिक पक्ष से अलग प्रगतिवाद के कुछ सिद्धान्त आज दुनिया में अपना लिए गए हैं। उत्पीड़न और शोषण को आज कोई भी उचित नहीं कह सकता; वर्गभेद मिटना चाहिये, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। समाजवाद ने कुछ सत्य तो इस दुनिया को दिये ही हैं, और समस्त विश्व की बौद्धिक चेतना इन सत्यों को स्वीकार कर चुकी है। यह सत्य समस्त विश्व की मान्यता के भाग बन चुके हैं। साहित्यकार आखिर मनुष्य है, अपनी बुद्धि को वह अपने से अलग तो नहीं कर सकता। विश्व की बौद्धिक चेतना की भावनात्मक-संवेदना को ग्रहण करना प्रत्येक श्रेष्ठ-साहित्यकार का स्वाभाविक क्रम हुआ करता है। इसलिए आधारमूल न सही लेकिन कुछ महत्त्वपूर्ण मान्ताएँ तो प्रगतिवाद ने हमें दी ही हैं।

प्रगतिवाद का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त जो अन्य विचारधारा वाले देशों ने भी अपना लिया है, यह है कि राष्ट्र के विकास और निर्माण में जनता में भावनात्मक सहयोग जगाने के लिए साहित्य की सहायता लेना नितान्त आवश्यक है। हमारे देश में भी विकास-कार्यों पर गीत, नाटक, कहानियाँ और उपन्यास लिखवाए गए हैं। यद्यपि ऐसे साहित्य का भावना-पक्ष थोड़ा-बहुत शिथिल होता है; पर यह तो लेखकों और साहित्यकारों के चुनाव पर तथा उनको उचित सुविधाएँ प्रदान करने पर निर्भर है। एक अच्छा साहित्यकार अगर वह प्रयत्न करे तो इस प्रकार के साहित्य में सबल भावना-पक्ष दे सकता है। पर इस काम के लिए साहित्यकार में स्वयम् एक प्रकार का उत्साह होना चाहिए, और आज के भौतिक जगत् का समस्त उत्साह आजीविका में है।

यहाँ मुझे एक रोचक बातचीत जो दिल्ली के एक आई० सी० एस० सेक्रेटरी से हुई थी, याद आ रही है। वह अधिकारी जनता में भावनात्मक प्रचार के लिए साहित्य को आवश्यक समझ कर किसी विशेष-विकास कार्यक्रम पर एक नाटक लिखवाना चाहते थे। उन्होंने मुझसे कहा, "हम पाँच-सौ रुपए का एक पुरस्कार घोषित करना चाहते हैं उस सर्वश्रेष्ठ नाटक

पर जो इस विषय पर लिखा जाय। इसके लिए मैं एक नाटक-प्रतियोगिता का विज्ञापन दे रहा हूँ। इससे हमें एक अच्छा नाटक मिल जायगा।"

मैंने उनकी बात पर कुछ देर तक सोचा, फिर मैंने कहा, "आपको एक अच्छा और सफल नाटक किसी हालत में नहीं मिल सकेगा।"

उन्होंने आश्चर्य के साथ पूछा, "क्यों, क्या यह पुरस्कार लेखकों के लिए यथेष्ट आकर्षण न होगा? पुरस्कार के लिए हम रकम ५००) से बढ़ा कर १०००) कर सकते हैं।"

इस समय तक मुझमें एक तरह की झुँझलाहट आ गई थी। मैंने कहा, "देखिये, आपको चार हजार रुपया महीना मिलता है—इस कार्यक्रम के प्रशासन-सम्बन्धी कार्य सम्हालने के लिए। आप सफल हैं अथवा असफल हैं, इसकी कोई शर्त नहीं। और एक लेखक को आप केवल ५००) या १०००) रुपया देना चाहते हैं एक अच्छा नाटक लिखवाने के लिए जिसे लिखने में उसे प्राय: तीन-चार महीने लग जाएँगे। चार महीनों में आपको तो १६०००) मिल गए और लेखक को मिला १००० रुपया। फिर प्रतियोगिता में किसका नाटक सफल होगा, यह नहीं कहा जा सकता। अगर चालीस लेखकों ने प्रतियोगिता में नाटक भेजे तो ३९ लेखकों ने मुफ़्त में कलम घिसी और तीन-चार महीने नष्ट किये, केवल एक को एक हजार मिला। तो लेखक को यह रुपया मिलेगा, इसका भी तो भरोसा उसे नहीं है क्योंकि नाटक को पुरस्कार मिलने में उसके साहित्यिक मूल्य के साथ प्रतियोगिता के निर्णायकों की सनक भी सम्मिलित है। अब आप ही समझ लें कि कोई सफल, स्वाभिमानी और समर्थ लेखक किस प्रकार आपको अपना सहयोग दे सकता है?"

मुझे व्यक्तिगत अनुभव तो नहीं है, पर अपने रूस के प्रशंसक लेखक-मित्रों से मैंने सुना है कि रूस में साहित्यकारों को साधारण प्रशासकों से अधिक रुपया मिलता है। किसी भी योजना का भावनात्मक पक्ष उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उसका बौद्धिक और संचालन पक्ष। पूँजीवादी, समाजवादी और इधर हाल में विकसित होने वाली अफ़सरवादी मिली-जुली परम्परा में सिद्धान्त के रूप में समाजवाद का प्रगतिवादी दृष्टिकोण सिद्धान्त के रूप में भले ही स्वीकार कर लिया गया हो; पर इस दृष्टिकोण को कार्यान्वित करने में बहुत अधिक कठिनाइयाँ कदम-कदम पर मिलेंगी।

प्रगतिवाद के आधार-मूल सिद्धान्तों में अमर और शाश्वत साहित्य की रचना के बीज नहीं हैं—यह भी मैं नि:संकोच कह सकता हूँ। सामयिक समस्याओं और आवश्यकताओं पर लिखा जाने वाला साहित्य केवल तब

तक जीवित रह सकता है जब तक ये सामाजिक समस्याएँ और आवश्यकताएँ मौजूद हैं। वैसे अधिकांश व्यावसायिक साहित्य समय की माँग ही पूरा करता है, लेकिन उसके कुछ भाग में अमर और शाश्वत साहित्य में सम्मिलित किये जाने की सम्भावना अवश्य रहती है। प्रगतिवादी साहित्य में यह सम्भावना एक तरह से नहीं के बराबर हैं।

कविता के रूप में तो प्रगतिवाद सबसे अधिक निर्बल उतरता है, और कभी-कभी वह हास्यास्पद दिखने लगता है। किसानों और मज़दूरों की समस्या पर तथा उनमें चेतना पैदा करने वाला शिष्ट साहित्य उन किसानों और मजदूरों की समझ में नहीं आता। बौद्धिक नारों और बौद्धिक वादों को समझने की क्षमता उन बे-पढ़े मज़दूरों और किसानों में नहीं है; और शिक्षित मध्यवर्ग वाले आदमी के लिए वह कविता है नहीं, क्योंकि उसकी संवेदना को वह जागृत नहीं करती। कविता के क्षेत्र में प्रगतिवाद की इस कमज़ोरी के प्रवर्त्तकों ने स्पष्ट देख लिया है, और समाजवादी देशों ने अब प्रगतिवादी कविता के स्थान पर लोकगीतों तथा अन्य लोककलाओं को महत्त्व देना आरम्भ कर दिया है।

पर भारतीय भाषाओं में और हिन्दी में आज के दिन भी प्रगतिवादी कविताएँ लिखी जा रही हैं। परम्परागत कविता में तथा प्रगतिवादी कविता में भेद रूप का नहीं है, वस्तु-विषय का है। और इस वस्तु-विषय में भी भेद दृष्टिकोण का है। मज़दूर पर एक कविता लिखी जा सकती है, मज़दूरों का शोषण करने वालों में मज़दूरों के प्रति संवेदना उत्पन्न करते हुए या समाज में मज़दूरों के प्रति संवेदना उत्पन्न करने के लिए। और मज़दूर पर दूसरी कविता लिखी जा सकती है उसे अपने अधिकार और शक्ति का ज्ञान कराते हुए तथा उसे उकसाते हुए कि वह पूँजीपतियों के मकानों में आग लगा दे, वह पूँजीवादी को क़त्ल कर दे, वह हड़ताल करके पूँजीवादी का दिवाला निकलवा दे। और यहीं साहित्य के उद्देश्य में अन्तर पड़ जाता है। जहाँ पहली कविता भावना से उदात्तीकरण का सिद्धान्त स्वीकार करके परम्परा-गत कविता की कोटि में आ जाएगी, वहीं दूसरी कविता समाजवादी व्यवस्था का प्रचार करते हुए क्रान्ति और लूट-मार तो करवा देगी, वह समाज में विकास का क्रम नहीं ला सकेगी।

प्रगतिवाद का मूल रूप धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है, आज विश्व में घृणा-हिंसा-रक्तपात के प्रति अनास्था पैदा हो गयी है, और प्रमुख समाज-वादी देश रूस शान्ति का सबसे बड़ा समर्थक बन गया है।

दसवाँ परिच्छेद

प्रयोगवाद अथवा नयी कविता

कविता के क्षेत्र में आज जो सबसे अधिक मुखर है, जो सबसे अधिक प्रचलित है, और साहित्य की मान्यताओं के लिए जो एक बहुत बड़ी चुनौती के रूप में स्थित है, वह है प्रयोगवाद। इस प्रयोगवाद का कोई व्यावसायिक पक्ष नहीं है, यह प्रयोगवाद की कविता जीविका के उपार्जन के लिए नहीं लिखी जाती; इस प्रयोगवाद के प्रवर्त्तक वे लोग हैं जिन्हें श्रमजीवी साहित्यकार नहीं कहा जा सकता; जो या तो दूसरे धन्धों में लगे हैं लेकिन जिन्हें साहित्यकार कहलाने का शौक है, या फिर वे शिक्षित और अधिकांश में उठते हुए नवयुवक हैं जो साहित्य को अपना आधार-स्थल बना कर दूसरे पेशों पर छलांग मारना चाहते हैं।

कविता के क्षेत्र में प्रयोगवाद के इतना सबल बन जाने का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि यह युग कविता का नहीं है, कविता की किताबें बिकती नहीं हैं और इसलिए अधिकांश में कविता स्वान्त: सुखाय लिखी जाती है। वैसे अनादिकाल से स्वान्त: सुखाय, अर्थात् केवल शौक के लिए कविता लिखने की परम्परा रही है, लेकिन साहित्य का व्यावसायिक पक्ष विकसित हो जाने के बाद यह शौक के लिए लिखी जाने वाली कविता साहित्य की मान्यताओं से दूर हट गयी थी। बड़े-बड़े राजा-रईस कविता लिखते हैं या दूसरों से लिखवा कर स्वयं अपनी कहकर उसे पढ़ते थे और उनके आश्रितों को उन कविताओं की प्रशंसा भी करनी पड़ती थी, पर वह कविता कभी भी प्रचलित नहीं हो सकी।

कला मनुष्य में एक स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रवृत्ति के रूप में जन्म लेती है, लेकिन उस कला के निखार में साधना और परिश्रम की आवश्यकता होती है। इस परिश्रम और साधना का अत्यन्त आवश्यक अंग माना गया है 'एकनिष्ठा'। इस 'एकनिष्ठा' की उपलब्धि के लिए कला का कलाकार में व्यावसायिक रूप लेना नितान्त आवश्यक है क्योंकि जीवित रहने के लिए आजीविका सबसे प्रथम आती है। महान् और स्रष्टा कलाकारों के भूखे रहकर अपनी कला की साधना करने के जो उदाहरण दिये जाते हैं, वह कला में इसी एकनिष्ठा को महत्व देने के लिए। और इसीलिए जब किसी कला का व्यावसायिक अथवा आजीविका

देने वाला पक्ष गायब हो जाय तब उस कला का ह्रास अनिवार्य हो जाता है।

इने-गिने परिवारों में कला के सिमट जाने के उदाहरण कला के इस आजीविका पक्ष के कारण ही मिलते हैं। सङ्गीतज्ञों, नर्तकों, चित्रकारों, मूर्तिकारों के घरानों की परम्परा आज भी हमारे देश में यदा-कदा दिख जाती है। यही नहीं, कला के इस व्यावसायिक पक्ष के आधार पर हमारे देश में जातियाँ तक बन गयी थीं। कवियों में चारणों की अथवा भाटों की जाति को हम अच्छी तरह जानते हैं, नटों की जातियाँ थीं, भाड़ों की जातियाँ थीं।

कला के व्यावसायिक पक्ष के रूपान्तर के कारण न हमें आज चारण मिलते हैं, न हमें आज नट दिखते हैं और न भांड़ ही दिखते हैं। वैसे प्रशस्ति-गायन की प्रवृत्ति हमारे समाज में वैसी की वैसी मौजूद है और हर समाज में प्रशस्ति-गायन करने वाले लोग मिलेंगे। राजाओं और सामन्तों के स्थान पर आज मन्त्रियों और पूँजीपतियों पर कविता लिखे जाने के अनेक उदाहरण मुझे दिखते रहते हैं। भँड़ैती करने वाले मनुष्यों की समाज में कमी नहीं है, अधिक से अधिक सभ्य और शिक्षित समाज से लेकर अधिक से अधिक अविकसित समाज में दो-चार व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जो पूरी सभा को हँसा सकें। नट की कला में कुशल कुछ लोग हर जगह मौजूद हैं। इस प्रकार के कुछ लोग, समाज और जाति की परम्परा में रहते हुए भी, अपनी कला को अपनी आजीविका का साधन बना लेते हैं। राज्याश्रय में पुरस्कृत होने वाले कवियों को मैं जानता हूँ यद्यपि वे चारण नहीं हैं, फिल्मों एवं नाटकों में हास्य का अभिनय करने वालों को मैं जानता हूँ यद्यपि वे भाँड़ नहीं हैं सर्कस में काम करने वाले कुछ लोगों को मैं जानता हूँ यद्यपि वे नट नहीं हैं।

मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि साहित्य में शब्द के उपकरण होने के कारण साहित्य का बौद्धिक पक्ष सबल हो गया है और परिणाम रूप में बौद्धिक विकास के युग में साहित्य को अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक विशिष्ट और श्रेष्ठ समझा जाता है। अमुक कलाकार की कला श्रेष्ठ है अथवा निकृष्ट है, अमुक कलाकार की कला समाज के लिए उपयोगी है अथवा समाज-विरोधी है, इसका वर्गीकरण भी तो बौद्धिक प्रक्रिया है। यह बौद्धिक प्रक्रिया वैयक्तिक हो सकती है, यह सामाजिक भी हो सकती है। पर इस बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा वर्गीकरण का सामाजिक

पक्ष ही महत्त्वपूर्ण है, वैयक्तिक पसन्द अथवा नापसन्द से अन्य लोगों को कोई प्रयोजन नहीं होता।

इसके ये अर्थ नहीं कि मैं कला के वैयक्तिक अथवा आत्मगत पक्ष को अस्वीकार करता हूँ, कला का यह आत्मगत पक्ष ही कला को प्राणवान् बनाता है। पर समाज में कला की स्वीकृति उसके वस्तुगत पक्ष पर ही निर्भर है क्योंकि यह वस्तुगत पक्ष ही सामाजिक पक्ष है। कला का यह वस्तुगत पक्ष, ऊपर से स्पष्ट और सीधा-सादा दिखते हुए भी कुछ अजीब उलझनों से भरा है। व्यावसायिक कला सर्वथा इस वस्तुगत पक्ष के अन्तर्गत आती है, लेकिन नित्य प्रति बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं के कारण कला का यह वस्तुगत दृष्टिकोण भी बदलता रहता है। फिर व्यावसायिक कला विशेष काल और परिस्थिति की सीमाओं में बँधी होती है। कला को समर्थ और सक्षम बनाता है कला का आत्मगत पक्ष।

कला का यह आत्मगत पक्ष जो कला को महान् बनाता है, वह कला को निकृष्ट कोटि की भी बना देता है। क्या महान् है और क्या निकृष्ट है, आखिर इसका निर्णय कौन करेगा? उन्माद, अश्लीलता, उदात्तीकरण—ये सब सामाजिक वर्गीकरण हैं, व्यक्ति के साथ तो यह सब स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रवृतियाँ भर हैं। कला का उद्देश्य तो अपने को समाज पर आरोपित करना होता है और समाज केवल उस चीज को स्वीकार करेगा जिसे वह उचित अथवा श्रेष्ठ समझता है। इसलिए कला या आत्मगत पक्ष बिना उसके वस्तुगत पक्ष के निरर्थक और निष्प्रयोजन है।

हिन्दी में प्रयोगवाद विदेशी प्रभाव से आया है और प्रयोगवाद के प्रवर्तक और उपासक वे लोग हैं जो स्पष्ट रूप से अथवा गौण रूप से पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद प्रगतिवाद से अधिक पुराना है, प्रयोगवाद का जन्म अमेरिका में वाल्ट ह्विटमैन की कविता के साथ हुआ है।

इस प्रसंग को आगे बढ़ाने के पहले मुझे एक बात और स्पष्ट कर देनी पड़ेगी, वह यह कि कला की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है नवीनता की सृष्टि। यही नवीनता तो व्यक्ति की निजी रचना है। इसी प्रवृत्ति के कारण कला विकासोन्मुख होती है। नवीनता का जो सर्वमान्य रूप अधिकांश लोगों ने समझ रक्खा है वह है प्रचलित परम्परा से भिन्न किसी चीज को व्यक्त करना। यह नवीनता आगे बढ़ने में हो सकती है, यह पीछे हटने में भी हो सकती है। 'पीछे हटने' से मेरा प्रयोजन उन

चीजों को प्रस्तुत करने से है जिन्हें हम बहुत पहले छोड़ चुके हैं। लोक कला को अपनाने की प्रवृत्ति जो आज दिखती है वह नवीनता के नाम पर इस पीछे हटने की प्रवृत्ति की द्योतक है।

वाल्ट ह्विटमैन ने छन्दों के बन्धन को तोड़कर केवल लय के आधार पर कविता लिखी। छन्दों के बन्धन में रहते बहुत कुछ नहीं लिखा जा सकता जो बिना छन्द वाली केवल लय-युक्त कविता में लिखा जा सकता था। वाल्ट ह्विटमैन ने छन्दों के बन्धन को तोड़ कर कविता में विविध प्रकार के ऐसे विषयों को समाविष्ट करने का, जो उसके पहले कविता में नहीं लिखे जाते थे, एक साहसपूर्ण कदम उठाया। वाल्ट ह्विटमैन की कविता का अमेरिका में जोरों का स्वागत किया गया और वाल्ट ह्विटमैन का एक ऐतिहासिक स्थान बन गया है। इसे हम वाल्ट ह्विटमैन की सफलता अवश्य कह सकते हैं पर इसे उस नवीन कविता की सफलता नहीं कहा जा सकता जिसकी नींव वाल्ट ह्विटमैन ने डाली थी। मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसे स्पष्ट करना मेरे लिए आवश्यक हो जाता है।

मानव-समाज में नियमों में बँधने की विचित्र प्रवृत्ति है, और इसी प्रवृत्ति के कारण मनुष्य सामाजिक प्राणी बन सका है। और इसीलिए मानव के हर एक विचार और हर एक कर्म में यह नियम की अनिवार्यता मिलती है। पर मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ विकासोन्मुख भी है। इसलिए मनुष्य उन नियमों को जो पुराने पड़ जाने के कारण हानिप्रद सिद्ध होने लगते हैं, तोड़कर नवीन नियमों की रचना करता है और उन नवीन नियमों के अनुसार आचरण करने लगता है। मानव में इस प्रकार के नियम-परिवर्तन का क्रम बौद्धिक नहीं है, यह क्रम शुद्ध रूप से भावनात्मक है, बुद्धि का केवल सहारा लिया जाता है। हानिप्रद वर्तमान के प्रति विद्रोह समाज द्वारा नहीं आरम्भ होता है, वह तो व्यक्तियों द्वारा आरम्भ होता है। आरम्भ में समाज विद्रोही व्यक्तियों का विरोध करता है, उन्हें त्रासित करता है, उन्हें दण्ड देता है। पर जो स्वाभाविक है और सत्य है वह दबता नहीं, समाज द्वारा दमन के होते हुए भी अन्य व्यक्ति भावनात्मक रूप में इस विद्रोह को अपनाने लगते हैं और सक्रिय विद्रोह करने वालों की संख्या बढ़ती रहती है। अन्त में भावनात्मक चेतना समाज में इतनी अधिक जागृत हो जाती है कि दमन बन्द हो जाता है और यह विद्रोह द्वारा आरोपित नियम समस्त समाज द्वारा स्वीकृत हो जाता है।

प्राचीनता के विरुद्ध यह वैयक्तिक विद्रोह सही भी हो सकता है, गलत

भी हो सकता है। इस सही-गलत का निर्णय कर्म-प्रधान परम्पराओं में तो जल्दी ही हो जाता है,विचार-प्रधान परम्पराओं में यह निर्णय काफी समय लेता है। वाल्ट ह्विटमैन का यह विद्रोह विचार-प्रधान परम्परा के अन्तर्गत आता है। फिर यह विद्रोह कर्म-प्रधान परम्परा के अन्तर्गत न आने के कारण स्पष्ट रूप से समाज विरोधी भी नहीं कहा जा सकता। वाल्ट ह्विटमैन के इस विद्रोह ने दुनिया को चकित कर दिया। उसने दुनिया को एक नवीन चीज दी, यह निश्चित था, और नवीनता के प्रति मोह मानव की स्वाभाविक प्रवृति है। परम्पराओं से जकड़ी दुनिया को वाल्ट ह्विटमैन में एक तरह की नवीनता मिली और लोगों ने इस नवीनता का स्वागत किया।

वाल्ट ह्विटमैन का साहित्यिक महत्त्व उतना अधिक नहीं है जितना अधिक ऐतिहासिक महत्त्व है। दुनिया को वाल्ट ह्विटमैन की कविता ने इतना अधिक प्रभावित नहीं किया जितना अधिक उसकी नवीनता ने प्रभावित किया। और वाल्ट ह्विटमैन की यह नवीन प्रकार की कविता केवल नवीन होने के कारण काफी अधिक बिकी। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्य उठते हुए कवियों ने भी वाल्ट ह्विटमैन का अनुसरण किया।

इस कविता में प्रधानता कविता के विषय-वस्तु को तो दी ही गयी थी, कुछ ऐसे विषयों का समावेश कर के जो परम्परागत कविता में नहीं समाविष्ट किये जाते थे, पर इस कविता में कविता के रूप के साथ एक बहुत बड़ा प्रयोग किया गया था। आवृति युक्त लय जिसे हम छन्द कहते हैं, उसका परित्याग तो किया ही गया था, स्वयम् लय की विभिन्नता के साथ नए-नए प्रयोग किए गए। इस रूप परिवर्तन में नवीनता के चमत्कार का प्रश्रय बहुत अधिक लिया गया। वाल्ट ह्विटमैन के बाद वाले कवियों ने तो कुछ बड़े अजीब-गरीब प्रयोग किये जो हास्यास्पद तक कहे जा सकते हैं। पर इस नए प्रकार की कविता का रूप निर्धारित करने में किसी भी व्यक्ति को अभी तक कोई सफलता नहीं मिल सकी। लय अपनी आवृत्ति के कारण ही स्थित है और पहचानी जाती है आवृत्ति हटने के बाद—लय स्वयम् ही कविता से गायब हो गयी। इस प्रकार लय और उसकी आवृत्ति का परित्याग तो किया गया, पर उसके स्थान पर कविता का कोई दूसरा रूप बन ही नहीं सका। शुद्ध व्याकरण युक्त गद्य के स्थान पर तोड़ा-मरोड़ा और व्याकरणहीन गद्यमें कुछ अजीब तरह के अस्पष्ट और दुरूह भावों को बाँध कर यह नवीन कविता बनी।

लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि यह कविता अपनी इन समस्त विकृतियों के साथ आगे कैसे बढ़ सकी। दुनिया भर में जो इस नवीन प्रकार की कविता का लिखा जाना आरम्भ हो गया वह क्यों? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जनता ने इस प्रकार की कविता का इसके आदि-काल में जो स्वागत किया वह इसलिए नहीं कि उसमें किसी प्रकार का रस था, बल्कि इसलिए कि इस प्रकार की कविता में कुछ नयापन दिखा उन्हें। यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि इस प्रकार की कविता के युग का प्रारम्भ उस समय हुआ जब इस सारी दुनिया में कविता का युग समाप्त हो रहा था और कविता के स्थान पर कहानी-साहित्य ने साहित्य में अपना प्रमुख स्थान बना लिया था।

उन्नीसवीं शती से दुनिया में एक नए युग का प्रारम्भ हुआ जिसे हम बौद्धिक-वस्तुवादी युग कह सकते हैं। इस बौद्धिक-वस्तुवादी युग का श्रीगणेश जिसे हम अंग्रेजी में इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन (Industrial Revolution) कहते हैं और हिन्दी में औद्योगिक क्रान्ति कह सकते हैं उसके साथ आरम्भ हुआ। मनुष्य ने विज्ञान को जीवन की उपयोगिता का साधन बनाया, तत्त्वों के रहस्यों को जानकर मनुष्य ने इन तत्त्वों का अपने औद्योगिक विकास में सहारा लेना आरम्भ किया। भाप, बिजली, ध्वनि हर तरफ मनुष्य ने प्रगति की और उसके अन्दर यह धारणा बैठ गयी कि मनुष्य स्वयम् कर्ता है, मनुष्य की बुद्धि ही समर्थ और सक्षम है। विज्ञान के नवीन आविष्कारों से मनुष्य की बुद्धि एक बारगी सक्रिय हो उठी और मनुष्य में जीवन की मान्यताएँ ही बदल गयीं। दर्शन और धर्म से दूर हट कर मनुष्य की बुद्धि भौतिक ज्ञान से उलझ गयी, प्रकृति पर विजय पाने की होड़-सी लग गयी मानव समाज में। मशीनों के निर्माण के परिणाम-स्वरूप मनुष्य के स्थान पर मशीन ही उत्पादक बन गयी, उन मशीनों पर काम करने वाले मनुष्य भी मशीनों के कल-पुरजों की भाँति काम करने लगे। प्रेरणा अनगिनत मनुष्यों से सिमट कर एक व्यक्ति में केन्द्रित हो गयी जिसे मिल-मालिक कहा जाता है और इसी इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन के परिणाम-स्वरूप पूँजीवाद का जन्म हुआ।

जीवन की मान्यताओं में आमूल परिवर्तन का प्रभाव साहित्य की मान्यताओं में आमूल परिवर्तन के रूप में पड़ना अनिवार्य था। मनुष्य का जीवन शुद्ध भावनात्मक-स्तर से हट कर बौद्धिक-स्तर पर आ पड़ा और इसका सबसे बड़ा प्रभाव कविता पर पड़ा। इंगलैण्ड में उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में जो रोमेन्टिक रिवाइवल (Romantic Revival) अर्थात्

नवचेतना की लहर आई उसने कविता को छाया-रूपक (Abstract) बनाने के साथ एक प्रकार से उसके ह्रास की दिशा भी इंगित कर दी। वर्ड्सवर्थ, बाइरन, शेली, कीट्स आदि कवियों की परम्परा टेनीसन और राबर्ट ब्रुक्स तक आते-आते समाप्त-सी हो गयी, बुझने के पहले जिस तरह दीपक की लौ एकबारगी ही प्राज्वल्यमान् हो जाती है, उसी प्रकार कविता भी प्राय: तीन-चार दशकों के लिए एकबारगी ही महत्त्वपूर्ण बन कर ह्रास की ओर अभिमुख हो गयी। यही हाल हिन्दी की कविता का भी हुआ—कुछ काल के बाद; क्योंकि मशीन युग हमारे देश में कुछ बाद में आया। पंत, प्रसाद, निराला आदि कवियों ने छायावाद के रूप में कविता को जो नया मोड़ दिया उसके बाद कविता एकबारगी ही ह्रास की ओर बढ़ गयी।

इस ह्रास का कारण मनुष्य का आत्मगत दृष्टिकोण उतना अधिक नहीं है जितना अधिक मनुष्य का वस्तुगत दृष्टिकोण है। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, कला का वस्तुगत मूल्यांकन कला के सृजन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हुआ करता है। जिस समय कला को ग्रहण करने वाले कम हो जाँय या लोप हो जाँय उस समय कला का जीवित रहना असम्भव हो जाता है। भौतिक और वैज्ञानिक युग का मनुष्य कविता के प्रति उदासीन हो गया और स्वभावत: कविता की पुस्तकों की बिक्री बहुत कम हो गयी। राजाओं और सामन्तों की समाप्ति के साथ कवियों के लिए राज्याश्रय समाप्त हो गया और शिक्षित मध्यवर्ग भी जीवन के संघर्षों में इतना अधिक व्यस्त हो गया या उलझ गया कि उसके पास इतमीनान के साथ कविता को पढ़ने, उसकी गूढ़ताओं का आनन्द उठाने का न समय रह गया न मूड रह गया। वैसे मनुष्य का जीवन ही भावनात्मक है और इसलिए चरम बौद्धिक विकास की अवस्था में भी कविता जीवित रहेगी, पर कविता से सम्बन्धित मान्यताओं में आमूल परिवर्तन होना अनिवार्य है। समय के साथ कविता को समन्वय करने में समय लगेगा। आज कल्पना द्वारा असम्भव की स्थापना लोगों को स्वीकार नहीं होती, कविता की अतिशयोक्ति के प्रति आज के बौद्धिक मानव में प्राकृतिक रूप में अरुचि उत्पन्न हो गयी है।

इस नवीन दृष्टिकोण ने जहाँ उपन्यास और कहानी साहित्य के विकास में सहायता दी है, वहाँ उसने कविता को एकबारगी ही समाप्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अच्छे से अच्छे कवि की कविताओं की माँग भी जनता से जाती रही और इन बदली हुई सामाजिक मान्यताओं के युग में जहाँ कवियों को प्रश्रय देने वाले राजा और सामन्त

समाप्त हो गए, कवियों को भूखों मरने की नौबत आ गयी। ऐसी हालत में कवियों को कविता छोड़कर गद्य की शरण लेनी पड़ी। नाटक, उपन्यास, कहानी, स्केच, निबन्ध आदि जितने भी गद्य में कला के साहित्यिक रूप थे, वे विकसित हुए और व्यावसायिक दृष्टि से साहित्यकारों ने इन रूपों को अपना लिया। कविता केवल मनबहलाव की चीज रह गयी, आजीविका के लिए कविता का कोई महत्त्व नहीं रह गया।

और फलस्वरूप आज के दिन कविता के प्रति साहित्यकारों का गम्भीर दृष्टिकोण जाता रहा। साहित्यकारों की परिधि के बाहर साधारण जनता में कविता की उपेक्षा ही नहीं होने लगी, आर्थिक कारणों से कवियों का निरादर भी होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि कविता के नाम पर जो कुछ लिखा जाने लगा वह केवल विद्रूप और व्यंग बन गया क्योंकि व्यंग और विद्रूप स्वयम् में मनबहलाव का बहुत बड़ा साधन होता है।

"क्या कविता मर चुकी ?" यह प्रश्न दुनिया भर के साहित्यकारों के सामने है। वैसे हिन्दी में अभी कविता की पुस्तकें थोड़ी-बहुत बिक जाया करती हैं, पर यह बिक्री भी धीरे-धीरे कम होती जा रही है। कविता आजकल पाठ्य-पुस्तकों के रूप में ही बिकती है और जिन कवियों की कविताएँ पाठ्य-पुस्तकों के रूप में बिकती हैं, उनकी अन्य पुस्तकों की थोड़ी बहुत बिक्री हो जाया करती है, विशेष रूप से पुस्तकालयों में। जिन कवियों की कविता पाठ्य-पुस्तकों में नहीं सम्मिलित होती उनकी कविताओं की बिक्री बहुत कम होती है।

पर फिर भी कविताओं के प्रति मोह तो जन-साधारण में है ही। हमारे देश में होने वाले अनगिनती कवि-सम्मेलन इसके उदाहरण हैं; यद्यपि यह कवि-सम्मेलन कब तक चलते रहेंगे, यह कहना बहुत कठिन है। कवि-सम्मेलन नाच तमाशों की भाँति मनोरञ्जन का साधन है, और आज की अनिश्चित मान्यताओं के युग में कवि-सम्मेलनों को मैं केवल अस्थायी सामूहिक मनोरञ्जन का साधन समझता हूँ। जो कुछ भी हो, इन कवि-सम्मेलनों को देखने और इनमें भाग लेने के बाद मुझे कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि जो रूप सहित कविता है, यानी जिस कविता में लय है, छन्द है, तुकान्त है—यानी जिस कविता को गति के आधार पर लिखा गया है, वह कविता तो जनता द्वारा ग्राह्य होती है और जिस कविता का कोई रूप नहीं, जो केवल एक प्रकार का शब्दजाल है, उस कविता को जनता ग्रहण नहीं करती।

व्यंग स्वयम् में आज के बौद्धिक युग का प्रमुख अवयव होने के नाते भावनात्मक भी बन सकता है, लेकिन उसे भावनात्मक बनाने के लिए उसे छन्द की गति तो प्रदान करनी ही पड़ेगी। जहाँ तक विद्रूप का प्रश्न है, यही नियम उसके साथ भी लागू होता है, यद्यपि विद्रूप स्वयम् में एक प्रकार की निकृष्ट और असुन्दर विकृत होने के नाते भावनात्मक बन सकता है, इस पर मुझे शक है।

इतना सब होते हुए भी प्रयोगवाद साहित्य का एक निश्चित अंग बन चुका है, और इसकी स्थापना के पीछे एक बहुत बड़ी शक्ति रही है—राजनीतिक चेतना। प्रयोगवाद के इस राजनीतिक पक्ष को समझे बिना हम प्रयोगवाद की वास्तविकता को नहीं समझ सकेंगे। यह राजनीतिक पक्ष प्रयोगवाद को जन्म देने वाला तो नहीं है, यह प्रयोगवाद का प्रमुख पोषक तत्व अवश्य है।

प्रयोगवाद ने प्रगतिवाद की क्रिया में अपना बल प्राप्त किया है। मेरे इस कथन पर प्रयोगवाद के समर्थक और प्रवर्तक आपत्ति भले ही करें, पर यह ऐसा सत्य है जिससे इनकार नहीं किया जा सकता। समाजवादी देशों ने विचार के नियन्त्रण (Regimentation of thought) वाली नीति अपनाकर जो प्रगतिवाद के माध्यम से मनुष्य को मानसिक गुलामी में बाँधने का प्रयत्न किया, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रयोगवाद को मानसिक अराजकता के अपनाने में बहुत बड़ी सहायता मिली। वैसे प्रयोगवाद प्रगतिवाद से कहीं अधिक प्राचीन है पर विचारों की अराजकता का सुस्पष्ट रूप उसने धारण किया प्रगतिवाद की स्थापना के बाद, प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में।

मानसिक या यों कहें कि विचारों की अराजकता समाज विरोधी तत्त्व है, इससे बहुत कम लोग इनकार कर सकेंगे। प्रश्न इतना ही उठता है कि इस अराजकता का रूप क्या है और समाज विरोधी तत्त्वों को उभारने में यह अराजकता कहा तक सहायक होती है। जनतन्त्रवादी (Democratic) परम्परा में विचार-स्वातन्त्र्य को बहुत बड़ी महत्ता दी गयी है, पर यह उसी समय तक जब तक वह समाज-विरोधी प्रवृत्तियों को उभारने में सहायक न हो। अश्लील साहित्य के विरुद्ध विभिन्न जनतन्त्र-वादी देशों में जो कड़े प्रतिबन्ध लगाए गए हैं, वह इसी सत्य को प्रदर्शित करता है।

आरम्भ में कविता के क्षेत्र में प्रगतिवाद ने प्रयोगवाद का अनुसरण किया, छन्दों के मामलों में और यदा-कदा विचारों के मामले में भी।

मुझे याद है कि आरम्भ में जो छन्दहीन कविता हिन्दी में लिखी गयी उसे प्रगतिवाद का नाम दिया गया। प्रगतिवाद की नींव विचार-नियन्त्रण (Regimentation of thoughts) पर पड़ी है और इसलिए इस प्रगतिवाद का भावनात्मक होने की अपेक्षा बौद्धिक होना अधिक प्राकृतिक है। बौद्धिकता के मार्ग में छन्द बहुत बड़ी रुकावट के रूप में आता है, इसलिए प्रगतिवाद ने कविता के रूप में परिवर्तन किया। विचारों के सम्बन्ध में प्रगतिवाद का पहला कदम था परम्परागत विचारों को नष्ट करना। इसलिए विचार के क्षेत्र में परम्परा के उपासकों को अराजकता के दर्शन होना स्वाभाविक था। पर धीरे-धीरे प्रगतिवाद में विचार सुस्थिर हुए, समाजवाद का रचनात्मक रूप आगे बढ़ा और प्रगतिवाद ने अपना सुस्पष्ट रूप बना लिया।

पर प्रयोगवाद ने कला के रूप पक्ष को स्वीकार करने से इनकार किया क्योंकि प्रयोगवाद शुद्ध अराजकता की नींव पर खड़ा है। विषय-निर्धारण की अस्वीकृति कला के रूप-निर्धारण की अस्वीकृति से मिल कर एकाकार हो गयी। प्रयोगवाद की कविता को उसकी रूपहीनता के कारण कविता कहने में भी मुझे संकोच होता है।

उन पाश्चात्य देशों में, जहाँ प्रयोगवाद ने जन्म लिया, अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि प्रयोगवाद की धारा अब समाप्त होनी चाहिये। कविता के साथ यह खिलवाड़ आखिर कब तक किया जायगा? यह युग कविता का नहीं है, या कविता मर चुकी है—यह धारणा भी नितान्त सत्य नहीं है। भावना तो अविनश्वर है, और लाख होते हुए भी मनुष्य भावना को किसी हालत में नहीं छोड़ सकता क्योंकि भावना ही जोवन है। भावना को वहन करने वाले गद्य के अनेक प्रकार विकसित हो चुके हैं, पर गद्य में आवृत्ति वाली लय तो नहीं है जो भावना को वहन करने वाला सुस्पष्ट और सीधा-सादा माध्यम है। मनुष्य रोएगा, मनुष्य गाएगा, इस रुदन और गायन के साथ शब्द भी तो होने चाहिये।

प्रयोगवाद में महत्ता विषय-वस्तु को दी जाती है, रूप और शिल्प को नहीं दी जाती। मनुष्य बौद्धिक प्राणी है और शब्द बौद्धिक संज्ञा है। स्वभावतः मानव-समाज अनादिकाल से साहित्य में विषय-वस्तु को महत्ता देता रहा है। लेकिन भावनात्मक प्राणी होने के नाते शब्दों को लय या किसी अन्य प्रकार की गति प्रदान करके मनुष्य ने शुद्ध भावनात्मक कला का विकास किया। रूप और शिल्प में ही यह भावनात्मक गति पाई जाती है।

आज के दिन प्रयोगवादी कवि अपनी कविता को 'नयी कविता' कहने लगे हैं, और मुझे इस "नयी कविता" शब्द पर कुछ थोड़ी-सी आपत्ति है। प्रत्येक कविता जो लिखी जाती है, जब लिखी जाती है नयी कविता होती है। "नए प्रकार की कविता" शब्द इस कविता के लिए अधिक उपयुक्त होगा। ऐसा लगता है कि स्वयम् इस नयी कविता के कवि इसकी रूपहीनता के कारण इसकी सुस्पष्ट व्याख्या नहीं कर पा रहे हैं।

आज के अधिकांश कवि यह नयी कविता लिख रहे हैं। इन कवियों में प्रायः सब के सब शौक के लिए यह कविता लिखते हैं, आजीविका के लिए यह कविता नहीं लिखी जाती। और जिस कला को जनता ग्रहण नहीं करती, उसका भविष्य तो स्पष्ट-रूप से देखा जा सकता है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

साहित्य का माध्यम गद्य

लय और छन्दों की गति से हीन गद्य में भावना को वहन करने की क्षमता हो सकती है—हमारे प्राचीन आचार्यों और साहित्यकारों में इस विषय में सदा से शंका रही है, और सम्भवत: इसी लिए हमारे प्राचीन साहित्य में गद्य का सर्वथा अभाव दिखता है, सिवा नाटकों के। नाटकों में भी गद्य का, जहाँ-जहाँ, कथोपकथन के रूप में सहारा भर लिया गया है, उसे प्रमुखता नहीं दी गयी है। केवल एक ग्रंथ मिलता है—"कादम्बरी" जिसमें शुद्ध गद्य में कहानी के माध्यम से कला का सृजन करने का प्रयत्न किया गया है।

कादम्बरी का लेखक बाणभट्ट महान् प्रतिभावान् साहित्यकार था, स्रष्टा साहित्यकारों में बाणभट्ट का स्थान बहुत ऊपर आता है। लेकिन स्रष्टा-साहित्यकार होने के नाते जहाँ बाणभट्ट ने अपनी वैयक्तिक प्रतिभा द्वारा गद्य तथा कहानी के सम्बन्ध द्वारा कला की सृष्टि में सफलता प्राप्त की, वहाँ उनके बाद वाले अन्य कलाकार बाणभट्ट के मार्ग का अनुसरण नहीं कर सके। इसका कारण सम्भवत: यह रहा हो कि हमारी प्राचीन साहित्यिक मान्यताओं के अनुसार कहानी को दृष्टान्त मान कर समाज एवं धर्मशास्त्र को पोषक तत्त्व माना गया था, उसे कला मानने का साहस किसी ने नहीं किया। यद्यपि अज्ञात-रूप से कहानी को विशिष्ट महत्ता प्रत्येक महान् कलाकार ने हमेशा दी; पर इन कलाकारों ने कहानी को सहायक तत्त्व भर माना, कहानी को स्वयम् में कला का आधार किसी ने नहीं माना। स्वयम् बाणभट्ट की कादम्बरी अलंकृत गद्य में लिखी गयी है, और उसी अलंकृत गद्य को काव्य माना गया है।

जैसा मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ, कहानी धर्मशास्त्र और समाज शास्त्र का भाग होने के कारण आदर्शवाद के नियमों से बँधी थी और इस आदर्शवादयुक्त कहानी को ही साहित्य में आधार के रूप में स्वीकार किया गया। कहानी के कौतूहल वाले पक्ष को कला में तो कभी स्वीकार नहीं किया गया और न किया जायगा क्योंकि इन कुतूहल से भरी कहानी में न किसी प्रकार की भावनात्मक अभिव्यक्ति है और न बौद्धिक स्पष्टीकरण है।

कहानी का माध्यम गद्य बनाया सबसे पहले बाणभट्ट ने। बाणभट्ट की कादम्बरी की कथा किसी विशिष्ट आदर्श को प्रतिपादित करने को नहीं लिखी गयी, वह शुद्ध भावनात्मक अभिव्यक्ति की चीज है। एक विचित्र बात है कि बाणभट्ट को इसमें इतनी सफलता मिली ,जहाँ साहित्य को उसने इतना अधिक प्रभावित किया कि बाणभट्ट के बाद सुगठित और लम्बी कहानी की पुस्तक का नाम ही कादम्बरी पड़ गया। आज महाराष्ट्र में उपन्यास को कादम्बरी कहते हैं। स्पष्ट रूप से तो नहीं पर गौण-रूप से गद्य में लिखे उपन्यास या कहानी को साहित्य का अंग तो स्वीकार किया गया पर उसको शास्त्रीय महत्ता नहीं दी गयी।

भारतवर्ष में तो बीसवीं शती तक कहानी को कोई महत्त्व नहीं मिला। भारतवर्ष में शुद्ध गद्य में लिखी कहानी को महत्ता मिली अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के रूप में। वैसे गद्य में सशक्त और प्रभावशाली कहानियाँ संस्कृत साहित्य में बहुत पहले लिखी जा चुकी हैं—महाभारत दुनिया का प्रथम महान् उपन्यास कहा जा सकता है जिसने अपनी कहानी शिल्प के कारण अमरता प्राप्त कर ली है। हितोपदेश, पंचतन्त्र जातक एवं कथासरित्सागर की कहानियों के जोड़ का साहित्य दुनिया के किसी साहित्य में नहीं मिलेगा। लेकिन इन कहानियों को धर्मशास्त्र और समाज-शास्त्र के अन्तर्गत मानकर इनका साहित्यिक मूल्यांकन कभी नहीं किया गया।

भारतवर्ष की किस भाषा में कहानी के रूप में गद्य विकसित हुआ, इस पर कोई विशेष मतभेद नहीं हो सकता। बँगला साहित्य ही सर्वप्रथम अंग्रेजी से प्रभावित हुआ क्योंकि भारतवर्ष में अंग्रेजी-साम्राज्य ने बंगाल के द्वारा प्रवेश पाया और जिसे हम अंग्रेजी चेतना अथवा आधुनिक सभ्यता कहते हैं वह हमें अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही प्राप्त हुई। अंग्रेजी मद्रास और कलकत्ता के मार्गों से भारतवर्ष में प्रविष्ट हुई, लेकिन जहाँ दक्षिण में वह बोलचाल और दफ्तरों की भाषा ही बन सकी वहाँ बंगाल में अंग्रेजी ने बंगाल की संस्कृति और दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन किये। संस्कृति और दृष्टिकोण पर अंग्रेजी भाषा एवं अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव का असर बंगाल के साहित्य पर भी हुआ, और बंकिमचन्द्र चटर्जी के रूप में हमें भारतवर्ष का सबसे पहला उपन्यासकार मिलता है।

मैं बहुत पहले कह चुका हूँ कि कला का आधार गति है, शब्द नहीं। शब्द साहित्य कला का उपकरण मात्र है। जहाँ कविता में लय और छन्द की गति है, वहाँ गद्य में इस लय और छन्दयुक्त गति का अभाव

है। और इसीलिए प्रारम्भिक काल में गद्य को काव्य नहीं माना गया। काव्य रसात्मक वाक्य है। काव्य अर्थात् साहित्य की इस परिभाषा में भी जोर रस पर दिया गया है और रस की व्युत्पत्ति में प्रमुखता लय एवं छन्द को ही दी गयी है।

लेकिन छन्द और लय के अलावा गति का एक रूप और है जिस पर साहित्य के आचार्यों का ध्यान पहले नहीं गया। स्रष्टा कलाकारों ने भी अचेतन अथवा अर्धचेतन रूप में ही इस गति को स्वीकार किया और अपनी सृजन प्रक्रिया में इस गति का अवलम्ब लिया, लेकिन यह गति बौद्धिक होने के नाते उस समय साहित्य के आचार्यों द्वारा स्वीकृत नहीं हुई। यह गति है कल्पना की।

कल्पना की इस गति को सहायता मिलती है कल्पना द्वारा जनित चरित्रों की क्रिया और प्रतिक्रिया से। कर्म स्वयम् में गति का द्योतक है और इसलिए कहानी के पात्रों का कर्म और उस कर्म की प्रतिक्रिया, इनसे रस की सृष्टि होती है। यही रस तो भावना का द्योतक है।

देहातों में कहानी कहनेवाले कहानी कह कर रस की सृष्टि करते हैं। यह कहानी अनादिकाल से मनुष्य में भावना की सृष्टि करती आई है, लोक-गीतों के साथ-साथ लोक-कथा का हमारे जीवन में भी एक स्थान था। लेकिन जहाँ लोक-गीतों को विकसित करके साहित्य की रचना हुई वहीं लोक-कथाओं को विकसित करके प्रबुद्ध मानव ने सिद्धान्तों एवं धर्म तथा दर्शन को भावनात्मक रूप से प्रतिपादित करने वाले दृष्टांतों के रूप में अपने अन्तर्गत कर लिया। विश्व का महान् ग्रंथ महाभारत साहित्य न रह कर धर्म-ग्रंथ माना गया। बौद्धिक मानव ने कथाओं द्वारा आदर्शों की पुष्टि की। आदर्शवाद संवेदना की सृष्टि नहीं करता है, और अगर कहीं संवेदना की सृष्टि करता भी है तो वह संवेदना स्वयम् सैद्धान्तिक मान्यताओं में बँधने के कारण अपनी शक्ति क्षय कर देती है तथा विश्वासों और मान्यताओं पर अवलम्बित हो जाती है।

यह कहानी की गति कला के सृजन में बौद्धिक-स्तर पर शुद्ध लय और छन्द वाली गति से अधिक सशक्त है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। जहाँ कविता मूलत: आत्मगत होती है वहाँ कहानी वस्तुगत होती है। काव्य को वस्तुगत बनाने के लिए हमारे महान् कवियों ने इसीलिए कहानी की सहायता ली है। पर भावना और संवेदना को जागृत करने का माध्यम उनके पास छन्द और लय रहे हैं, शुद्ध कहानी को भावना को जागृत करने का साधन उन्होंने नहीं बनाया। लेकिन

क्रमशः ज्यों-ज्यों बौद्धिक-विकास होता गया त्यों-त्यों कहानी को साहित्य में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता गया। साहित्य के क्षेत्र में कहानी की महत्ता यौरोप में पहले बढ़ी क्योंकि वहाँ के धर्मशास्त्र और दर्शन का वाङ्‌मय अधिक विकसित न था जो कहानी को जबर्दस्ती अपने में खीच लेता। साहित्य में कहानी को महत्ता देने की परम्परा हमने योरोप से ली—यह निर्विवाद सत्य है।

विश्वविद्यालयों में शिक्षा देने वाले अनेक हिन्दी के आचार्यों को मैं जानता हूँ जो आज भी उपन्यास और कहानी को हीन दृष्टि से देखते हैं। प्राध्यापक होने के नाते इनका अध्ययन संवेदना को ग्रहण करने के लिए नहीं होता, निर्धारित आलोचनात्मक सिद्धान्तों पर ही यह साहित्य को तौलते हैं। और भारतवर्ष में कहानी पर कोई आलोचनात्मक सिद्धान्त अभी तक निर्धारित नहीं हो पाए हैं. इसलिए प्राध्यापक-आचार्यों के वर्ग में कहानी की घोर उपेक्षा है। हाँ, अंग्रेजी आलोचना-शास्त्र का प्रभाव अब कुछ लोगों पर पड़ने लगा है और धीरे-धीरे कहानी की महत्ता पर उनका ध्यान आकर्षित होने लगा है, तथा कुछ लोगों ने कहानी को शुद्ध कला के क्षेत्र में स्वीकार करना आरम्भ भी कर दिया है। लेकिन आज का युग स्वयम् योरोप में बदलती हुई अस्पष्ट और या तो शुद्ध नियंत्रण अथवा शुद्ध अराजाकता का युग है, इसलिए कहानी के मूल्यांकन में उन्हें उतनी सफलता नहीं प्राप्त होती जितनी अपेक्षित है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि हमारे आचार्यों में अपनी विद्वत्ता एवं आचार्यत्व से ऊपर उठ कर मौलिक दृष्टिकोण से कला को आँकने की प्रवृति नहीं आई है।

जैसा मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ, शब्द भावना को वहन करने का माध्यम नहीं है। शब्द स्वयम् में बौद्धिक होने के नाते बुद्धि को वहन करता है। शब्दों के उस समूह को, जो बौद्धिक व्याकरण से शासित हैं और जिसमें लय अथवा छन्द का कोई योग नहीं लिया जाता, हमने गद्य की संज्ञा दी है और इसलिए हम यह कह सकते हैं कि गद्य बुद्धि को वहन करने का माध्यम है, भावना को वहन करने का माध्यम नहीं है। मनुष्य का समस्त आदान-प्रदान बौद्धिक होने के नाते गद्य के माध्यम से होता है, मानव का समस्त भौतिक विकास बौद्धिक होने के नाते गद्य द्वारा हो सकता है। और आज के बौद्धिक-विकास के युग में गद्य ने अत्यधिक महत्ता प्राप्त कर ली है।

लेकिन बुद्धि भावना से सर्वथा मुक्त हो सकती है यह स्वयम्

में विवादग्रस्त प्रश्न है। मेरा तो ऐसा मत है कि मनुष्य अपनी भावना से न कभी अलग हो सका है, और न कभी अलग हो सकेगा। मैं जो इस समय साहित्य की मान्यताओं का शास्त्रीय विवेचन करने बैठा हूँ वह स्वयम् अपने अन्दर वाली भावना से प्रेरित होकर। जिन तर्कों का मैं सहारा ले रहा हूँ वे अवश्य बौद्धिक हैं पर मेरा जो उद्देश्य है, अर्थात् पढ़ने वाले मेरी बातें स्वीकार करलें, वह भावनात्मक है, लोग विश्वास करें, लोग स्वीकार करें, लोग संतुष्ट हो जाँय—यह स्वयम् में भावनात्मक प्रक्रियाएँ हैं।

मानव जीवन में भावना और बुद्धि को एक दूसरे से एकदम अलग कर देना नितान्त असम्भव है। प्राय: मुझे ऐसा दिखा है कि हम अपने भावनात्मक दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने के लिए तर्क का सहारा ले लिया करते हैं। हमारे बौद्धिक तर्क एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होते हैं और इसलिए गद्य को नितान्त बौद्धिक मान लेने का दु:साहस मैं नहीं कर सकता। मूलरूप से बौद्धिक होते हुए भी गद्य में कहीं एक भावनात्मक रंग मौजूद है, मैं यह स्वीकार करता हूँ। गद्य में साहित्य की कलात्मक अभिव्यक्ति मौजूद है, यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य में निबन्धों का एक स्थान माना गया है। सफल निबन्धों का लिखना बड़ा कठिन काम है, सदियों तक जीवित रहने वाले साहित्य में सफल निबन्धों की संख्या बहुत कम मिलेगी और निबन्ध साहित्य का सब से निर्बल भाग है—इतना सब मानते हुए भी हमें निबन्ध को साहित्य का भाग तो मानना ही पड़ेगा।

गद्य को जो चीज कला का रूप प्रदान करती है वह एक प्रकार की गति है, जिसे हम कल्पना की गति कह सकते हैं। इस कल्पना की गति को दूसरों तक पहुँचाने के लिए हमें कहानी से सबसे अधिक सहायता मिलती है। कहानी में क्रिया और प्रतिक्रिया के सहारे कल्पना गति को ग्रहण करती है। निबन्धों में यह क्रिया-प्रतिक्रिया बड़े शिथिल रूप में मिलती है।

गद्य के माध्यम वाली साहित्य की कला ही आज साहित्य में सशक्त समझी जाती है। इस कला के विकास के कारण कविता को अपार क्षति पहुँची है और अब तो कुछ ऐसा दिखता है कि भविष्य में अधिकांश साहित्य गद्य में ही लिखा जायगा।

गद्य में शैली का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह शैली कलाकार के व्यक्तित्व की छाप होती है। शैली से यह समझ सकते हैं कि अमुक

कृति किस साहित्यकार की है। कलाकार के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति जितना अधिक उस कलाकार के विषय-वस्तु में है, मैं समझता हूँ उससे कहीं अधिक उस कलाकार की शैली में है। शैली का महत्त्व पद्य अथवा कविता में भी काफ़ी अधिक है, लेकिन कविता में तो शैली स्वयम् ही कविता बन जाती है, इसलिए कविता के क्षेत्र में शैली को ज्ञात रूप में अलग से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। शैली के जितने भी अवयव हैं उनका वर्गीकरण करके उन्हें कविता के उपांगों में विभक्त कर दिया गया। लेकिन गद्य में विषय-वस्तु की व्यापकता के कारण शैली का विश्लेषण और वर्गीकरण असम्भव-सा है। यह शैली केवल व्यक्तिगत ही होती है। फिर भी बौद्धिक मानव अपनी विश्लेषण और वर्गीकरण की प्रवृति को छोड़ नहीं सकता, और शैलियों के वर्गीकरण एवं विश्लेषण होने लगे हैं।

गद्य विकास के क्रम में है, गद्य के नित्य नए रूप हमें दिखते रहते हैं। एक युग सूत्रों का था जब हम बहुत थोड़ा कहकर न जाने कितनी बात कह डालते थे; आज भी विज्ञान में बड़े-बड़े फार्मूलों को छोटे-छोटे सूत्रों में बाँध दिया गया है। पर यह तो बौद्धिक क्रम था। दर्शन-शास्त्रों के ग्रंथों में इतनी सूक्ष्मता की बातें लिखी गयी हैं कि उन्हें पढ़कर सर दर्द करने लगे पर यह क्रम भी बौद्धिक है। कला में, और विशेषत: उस कला में जो गद्य के माध्मम से सर्जित हो, विस्तार और प्रसार आवश्यक अंग समझे जाते हैं।

"थोड़ा लिखो, अधिकांश पढ़ने वाले की कल्पना के लिए छोड़ दो" वाला सिद्धान्त गद्य में, सिवा कुछ स्थलों को छोड़ कर, नहीं लागू होता। शैली-प्रधान गद्य तो विस्तार और प्रसार के सहारे ही चलता है। यद्यपि साहित्य में गद्य को प्रमुखता अथवा मान्यता नहीं दी जाती थी, पर प्राचीन गद्य जो भावनात्मक दृष्टि से लिखा जाता था, वह विस्तार और प्रसार से युक्त शैली प्रधान होता था।

'अति सर्वत्र वर्जयेत्' वाले सिद्धान्त के अनुसार शैली में भी विस्तार और प्रसार को आज के युग में बहुत अच्छा नहीं समझा जाता। यह प्रसार और विस्तार कुछ लोगों को भले ही प्रसन्न कर सके; अधिकांश व्यक्ति इससे ऊब जाते हैं।

प्रसार और विस्तार की शैली के समर्थक यह कह सकते हैं कि साहित्य कुछ इने-गिने लोगों के लिए है, सर्व-साधारण के लिए नहीं है, और उनके इस कथन में थोड़ा बहुत बल भी है। सर्व-साधारण की रुचि

अधिकांश में सम-सामयिक होती है; अमर साहित्य जो युग-युग तक जीवित रहे इस सम-सामयिक वाले नियम से सर्वथा नहीं शासित होता। पर यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखनी पड़ेगी। अपने युग को वही साहित्य लाँघ सकता है जो अपने युग में ही मान्य रहा हो। मानव-विकास के क्रम में मान्यताएँ एक बार मिट कर फिर स्थापित नहीं हो पातीं। विकास का क्रम ही आगे बढ़ना है, इस क्रम में पीछे लौटना असम्भव है। ऐसी हालत में जो भी शैली एक बार छोड़ दी जाती है, वह फिर वापस नहीं लौट सकती।

साहित्यिक गद्य का आधार शैली है विषयवस्तु नहीं है, बिना इस बात को स्वीकार किये साहित्य की मान्यताएँ निरर्थक हो जाएँगी और इसलिए हमें शैली पर विशेष-रूप से विचार कर लेना पड़ेगा। "शब्दों को विशेष प्रकार से सँवार कर रखने की प्रक्रिया को शैली कहते हैं"—शैली की यह सीधी-सादी छोटी-सी परिभाषा मैं कर रहा हूँ। यह सँवारना कई ढंगों से हो सकता है। यह शब्द लय के आधार पर सँवारे जा सकते हैं, ध्वनि के आधार पर सँवारे जा सकते हैं। कविता में इस शैली को अलंकारों का नाम भी दिया गया है। यह सब प्रक्रिया कविता के क्षेत्र की है।

गद्य में जो कुछ सँवारा जाता है उसका आधार है वह माध्यम जिससे विषय-वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है। यदि हम एक कहानी के माध्यम में से किसी भावना को प्रतिपादित करना चाहते हैं तो उस कहानी के विषय-वस्तु को किस प्रकार सँवारा जाय, इसमें हमें शैली का भास मिलेगा। यदि हम निबन्ध द्वारा भावना को प्रतिपादित करना चाहते हैं तो निबन्ध के विषय-वस्तु को किस प्रकार सँवारा गया है, उसमें शैली का भास मिलेगा।

मेरा तो निश्चित मत है कि 'क्या लिखा जाता है,' इसमें कला नहीं है, "कैसे लिखा जाता है" इसमें कला है। मैं विषय-वस्तु के आधार पर कला को मान्यता देने में पक्ष में हूँ ही नहीं; मेरे मत में यह सम्भव ही नहीं है। मैं कला का मूल आधार शैली मानता हूँ; और शैली हमेशा व्यक्तिगत हुआ करती है। शैली के मूल अवयव को लेकर आचार्यों ने शैली को नियमों में बाँधने का प्रत्यन किया है और कविता के ह्रास का एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि आलोचना-सिद्धान्त के अनुसार कविता बिल्कुल यांत्रिक बन गयी।

गद्य के कहानी भाग के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होने लगी

है। उपन्यासों पर, कहानियों पर कुछ इस प्रकार के ग्रंथ लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। सम्भवतः इसका एक कारण यह भी है कि आज के युग में प्रचार में भावनात्मक अभिव्यक्ति को महत्ता दी जाने लगी है। जगह-जगह लेखन की शिक्षा देने के लिए स्कूल खुल गए हैं, पाश्चात्य देशों की देखा-देखी हमारे देश में भी कुछ थोड़े से स्कूल लेखन-कला की शिक्षा देने लगे हैं।

शैली का व्याकरण-भाग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और व्याकरण की शिक्षा हरेक लेखक के लिए अनिवार्य है। मैं इस प्रकार के स्कूलों की सार्थकता को स्वीकार करता हूँ, लेकिन कला के व्याकरण-ज्ञान से ही आदमी सफल कलाकार नहीं बन सकता, इस सत्य को भी मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। कला में एक प्रकार का निजत्व रहता है जो कला को सफल और सक्षम बनाता है और यह निजत्व बड़े परिश्रम और बड़ी साधना के बाद अन्दर से प्रस्फुटित होता है।

कला के व्यावसायिक पक्ष होने के कारण यह साधना बहुत अधिक कठिन हो गयी है क्योंकि आजीविका के लिए एक लम्बे काल तक विद्यार्थी की भाँति जीवन व्यतीत करने का यह युग नहीं है। जन साधारण विकसित या विकृत कला को ही तत्काल स्वीकार करता है। विकास में साधना, धैर्य और प्रतीक्षा का प्रश्न है, इसलिए मनुष्य साधारण रूप से विकृत कला की ओर अग्रसर हो जाता है और विकृति मनुष्य को बडी जल्दी समाप्त कर देती है, यह भी सत्य है।

सौभाग्य से आज के बौद्धिक युग में साहित्य से सम्बद्ध अनेक विभाग खुल गए हैं जिनमें प्रवेश कर के उठता हुआ साहित्यकार अपनी आजीविका के प्रश्न को हल कर सकता है और इस प्रकार अपनी साहित्य की साधना को जारी रख सकता है। प्राचीन काल में केवल अध्यापन-विभाग ही ऐसा था; लेकिन अध्यापन-विभाग शास्त्रीय मान्यताओं से इतना अधिक बोझिल है कि अध्यापक बनने के बाद बहुत थोड़े से व्यक्ति अपनी मौलिकता कायम रख पाते हैं। वर्तमान काल में पत्रकारिता का विभाग, रेडियो विभाग एवं सरकारी प्रचार के अनेकों विभाग खुल गए हैं, जिनसे समस्या बहुत हद तक सुलझ गयी है।

पर इन सब विभागों में प्रमुखता गद्य को ही मिलती है, और गद्य का कहानी-भाग ही आज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयोगी समझा जाता है। इसलिए मैं निःसंकोच यह कह सकता हूँ कि आज का युग कहानी का युग है और हमें कहानी के विभिन्न-रूपों को समझ लेना पड़ेगा।

कहानी का आधार मानव की कल्पना है, कहानी सत्य घटना नहीं है अन्यथा कहानी कहानी न रह कर इतिहास बन जायगी। वैसे सत्य घटनाओं को लेकर भी कहानियाँ लिखी गयी हैं और लिखी जा रही हैं; पर ऐसी कहानियों में जो भावनात्मक दृष्टिकोण हैं वह लेखक का निजी अपना होता है। और यहीं कहानी इतिहास से भिन्न हो जाती है। फिर कहानी में कोई विशेष भावना प्रतिपादित की जाती है जबकि इतिहास में वह प्रतिपादित नहीं की जाती, वह केवल पाई जाती है। कहानी-लेखक का मुख्य उद्देश्य होता है प्रतिपादना, और अपनी प्रतिपादना के लिए वह ऐतिहासिक सत्य को तोड़-मरोड़ कर अपना सत्य बना लेता है।

कहानी का आधार 'क्या है' न होकर 'क्या होना चाहिये' हुआ करता है। लेकिन यही आधार आदर्शवाद का भी है। तो फिर कहानी में और आदर्शवाद में क्या अन्तर है, हमारे सामने स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठ खड़ा होता है।

प्राचीन काल का प्राय: समस्त कहानी-साहित्य आदर्शवाद के अन्तर्गत आता है, और आदर्शवाद की सबसे बड़ी कमजोरी यह है, जैसा मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ कि उसमें अतिशयोक्ति का सहारा लेना स्वाभाविक हो जाता है: और यह अतिशयोक्ति वर्तमान समाज के बौद्धिक मानव के गले नहीं उतर पाती। आदर्शवाद में प्रमुखता सिद्धान्त को मिलती है संवेदना का गौण स्थान रहा करता है। आदर्शवाद के आधार पर लिखी गयी कहानी में प्रमुखत: सैद्धान्तिक प्रतिपादना रहती है, यथार्थवाद के अन्तर्गत लिखी गयी कहानो में संवेदनात्मक प्रतिपादना रहती है।

बहरहाल प्रत्येक अवस्था में कहानी में वास्तविक सत्य नहीं हो सकता, वास्तविक सत्य सम्भव भी नहीं है। यथार्थवाद के अन्तर्गत जो कहानी आती है उसमें लाक्षणिक सत्य ही रहा करता है। उस लाक्षणिक सत्य के आधार पर ही हम वास्तविकता की भावनात्मक अभिव्यक्ति कर सकते हैं और सम्भवत: इसी कारण कहानी इन दिनों अधिकांश में प्रतीकात्मक बनती जा रही है।

जिसे कविता में प्रयोगवाद कहा जाता है, कहानी-क्षेत्र में उसे आरम्भ में प्रतीकवाद का नाम दिया गया था, यद्यपि प्रतीकवाद के सिद्धान्त अधिक दिनों तक टिक नहीं सके और इसलिए प्रतीकवाद पनप नहीं सका। शुद्ध प्रतीकवादी साहित्य आत्मगत होने के नाते वस्तुगत

या उसे सामाजिक कहना अधिक उचित होगा, जीवन में प्रभावहीन साबित हुआ और कहानी का तो शुद्ध रूप से वस्तुगत होना नितान्त आवश्यक है। मानव की क्रिया-प्रतिक्रिया मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक क्षेत्रों में सीमित होने के नाते वस्तुगत होनी ही चाहिये।

प्रतीकवाद का यह आत्मगत दृष्टिकोण मानव का सत्य है, इससे तो इनकार नहीं किया जा सकता और इसलिए इस दृष्टिकोण की जड़ें साहित्य में आरोपित हो गयी हैं, स्केच और रिपोर्ताज के रूप में। स्केच के लिए हिन्दी में शब्द-चित्र का प्रयोग किया गया है, लेकिन स्केच शब्द में जो संवेदना की मौजूदगी का आभास है वह "शब्द चित्र" शब्द में नहीं मिलता। इसलिए मैं स्केच शब्द का ही प्रयोग करूँगा। स्केच में एक चरित्र-विशेष की क्रिया तो होती है लेकिन उस क्रिया की समाज पर किसी प्रकार की वस्तुगत-प्रतिक्रिया नहीं होती। उसकी क्रिया की जितनी भी प्रतिक्रिया है वह लेखक के अन्दर वाली आत्मगत प्रतिक्रिया के रूप में आती है। यह आत्मगत प्रतिक्रिया संवेदात्मक है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता और इसलिए स्केच कहानी साहित्य का एक अनुपेक्षित भाग बन गया है।

स्केच से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण आज के साहित्य में रिपोर्ताज हो रहा है। यह रिपोर्ताज इस युग की पत्रकारिता की देन है जहाँ सामूहिक-क्रिया-प्रतिक्रिया को एक रूप में क्रिया माना जाता है और उसकी आत्मगत प्रतिक्रिया लेखक में समाहृत होकर संवेदना के सृजन की ओर अग्रसर होती है। इस रिपोर्ताज का क्षेत्र मनोरंजन अधिक होता है क्योंकि सामूहिक क्रिया-प्रतिक्रिया के फल स्वरूप लेखक के अन्दर वाली आत्मगत प्रतिक्रिया केवल कौतूहल के रूप में आती है। किसी प्रकार की गहरी संवेदना का उसमें अभाव-सा रहता है।

सशक्त कलाकार के हाथ में यह रिपोर्ताज काफी दूर तक भावनात्मक संवेदना का सृजन कर सकता, है, इससे तो मैं इनकार नहीं करता और कौतूहल स्वयम् में ज्ञान के विकास का माध्यम होने के कारण साहित्य का महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता है। ऐसी हालत में रिपोर्ताज पत्रकारिता से अलग हटकर साहित्य का एक भाग बन गया है और सम-सामयिक साहित्य में रिपोर्ताज का मुख्य स्थान बनता जा रहा है। आगे चल कर मैं स्केच और रिपोर्ताज के साहित्यिक मूल्यों का विवेचन करने का प्रयत्न करूँगा।

गद्य साहित्य के दो अन्य रूप हैं, निबन्ध और नाटक। यह दोनों ही

रूप अनादिकाल से प्रचिलित रहे हैं और इस स्थल पर इन रूपों के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत कह देना आवश्यक हो जाता है।

नाटक को मैं साहित्य का अत्यन्त सशक्त माध्यम मानता हूँ और नाटक का गद्य में होना अनिवार्य नहीं है। प्राचीन संस्कृत के प्रायः सभी नाटक कविता में मिलते हैं। ग्रीक नाटक पद्य में हैं; दुनिया का महान् कवि शेकसपियर ने अपनी अधिकांश अमर कविता नाटकों के माध्यम से लिखी है। इसलिए नाटक को मैं कविता और गद्य के अन्तर्गत न मान कर उसे एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्वीकार करता हूँ।

गद्य साहित्य का अति प्रचिलत और सबसे अशक्त एवं निर्बल भाग है निबन्ध। अच्छे निबन्धों का कम से कम हिन्दी भारतीय साहित्य में अभाव-सा ही है। विश्व के अन्य साहित्यों में भी निबन्धों की महत्ता अधिक नहीं है। ये निबन्ध अधिकांश में पाठ्य-पुस्तकों में ही मिलते हैं। शुद्ध सात्विक मनोरंजन के लिए पढ़े जाने वाले निबन्ध बहुत कम हैं और जो हैं भी उनका प्रयोग सूक्तियों के रूप में होता है।

सूक्तियों में भावनात्मक संवेदना तो है और इसलिए निबन्ध, साहित्य में उपेक्षित कभी नहीं हो सकता। हाँ, उसके जीवन की अवधि अपेक्षाकृत कम हो सकती है, पर एक सफल और सक्षम कलाकार के लिखे हुए निबन्ध सूक्तियों के रूप में अमरता भी प्राप्त कर सकते हैं।

बारहवाँ परिच्छेद

कहानी का प्रमुख-रूप—उपन्यास

आकार के अनुसार कहानी को दो भागों में बाँटने की प्रथा जनसाधारण में चल पड़ी है। लम्बी कहानी जो सौ पृष्ठ से ऊपर की हो, उसे मोटे तौर से उपन्यास का नाम दिया जाता है और छोटी कहानी जो प्राय: पन्द्रह-बीस पृष्ठ की हो, उसे कहानी का नाम दिया जाता है। इस विभक्तीकरण को प्राय: बड़े-बड़े हिन्दी के विद्वान् तक स्वीकार करते हैं।

लेकिन यह विभक्तीकरण गलत है। कहानी-साहित्य तीन भागों में विभक्त होता है—उपन्यास, लम्बी कहानी और छोटी कहानी। या फिर अगर हम कहानी को दो भागों में ही विभक्त करें तो हमें आकार का प्रश्न छोड़ कर कहानी के मूल अवयवों के आधार पर ही कहानी को उपन्यास और कहानी के विभागों में विभक्त करना होगा। इस स्थान पर हमें उपन्यास और कहानी के भेद को समझ लेना पड़ेगा।

उपन्यास कई कहानियों के उस एकीकरण को कहते हैं जो एक सूत्र में बँधी हों, जिसमें अलग-अलग न जाने कितनी घटनाएँ हों, जो एक दूसरे से सम्बद्ध हो सकती हैं, नहीं भी हो सकती हैं, लेकिन जो सब सामूहिक-रूप से मिलकर एक प्रकार की पूर्णता उत्पन्न करती हों। उपन्यास का प्रमुख कथासूत्र गठा हुआ हो सकता है, वह बहुत ढीला हो सकता है लेकिन प्रमुख कथासूत्र ही उपन्यास का आधार होता है और उस प्रमुख कथासूत्र के इर्द-गिर्द यह न जाने कितनी उपकथाएँ चलती रहती हैं जो उपन्यास के कथासूत्र को परिपुष्ट करती हैं और पूर्णता प्रदान करती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उपन्यास के विभिन्न चरित्र एक दूसरे के सम्पर्क में आवें ही। उपन्यास काल और स्थान की सीमा को भी स्वीकार करता है। फिर भी उपन्यास का प्रभाव पढ़ने वाले के मन पर बहुत गहरा पड़ता है, वह एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देता है जो संवेदनात्मक रूप से पाठक के मन पर एक प्रकार का स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है।

उपन्यास नाम से पुकारी जाने वाली अधिकांश पुस्तकें उपन्यास हैं ही नहीं, वह केवल लम्बी कहानियाँ भर होती हैं। यह कहानियाँ अपने

बड़े आकार के कारण उपन्यास कहलाती हैं। जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है, उपन्यास का शिल्प कुछ उलझा हुआ और जटिल होता है। लेखक के लिए स्वयम् ही उपन्यास और लम्बी कहानी की सीमा रेखा निर्धारित करना कठिन हो जाता है। कलाकार अपनी सृजन प्रक्रिया के समय शिल्प के व्याकरण के प्रति जागरूक कभी हो ही नहीं सकता; पर कलाकार के शिल्प का व्याकरण अज्ञात-रूप से पूर्ण हुआ करता है। स्रष्टा कलाकार के पास उसके शिल्प के कोई नियम नहीं होते। नियम तो आलोचक, स्रष्टा कलाकार के शिल्प के अध्ययन के आधार पर बनाते हैं। पर जब इस शिल्प की शास्त्रीय विवेचना की जाती है तब इस शिल्प के आधार पर नियम बना लिए जाते हैं। यह नियम मोटे और अस्पष्ट ढंग पर ही ठीक होते हैं, और इन नियमों से एक प्रकार का इंगित अथवा संकेत ही मिलता है।

मेरे मत से दुनिया का प्रथम उपन्यास महाभारत कहा जा सकता है और अभी तक उतना बड़ा उपन्यास नहीं लिखा जा सका है। महाभारत का कथासूत्र एक है, कौरवों-पाण्डवों का युद्ध, लेकिन इस कथासूत्र के इर्द-गिर्द न जाने कितने उपन्यास समाहृत हैं। मुख्य कथासूत्र को आगे बढ़ाने में ये उपाख्यान किसी भी प्रकार की सहायता नहीं करते, फिर भी ये सब उपाख्यान मुख्य कथा से गुँथकर उस ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान करते हैं।

हमारे देश में कथा-साहित्य का विकास साहित्य के अन्तर्गत न होकर धर्म के अन्तर्गत हुआ है और इसीलिए महाभारत को साहित्य का ग्रन्थ न मान कर धर्म का ग्रन्थ माना गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे जातक की कथाओं एवं कथासरित्सार को धर्म-ग्रन्थ ही माना गया है। पर इस समस्या कथा-साहित्य का सृजन स्रष्टा-साहित्यकारों द्वारा ही हुआ है। महाभारत में तो कोई विशेष धार्मिक प्रतिपादना भी नहीं है। महाभारत में एक महत्त्वपूर्ण बात है —संवेदना, महाभारत के हरेक चरित्र के साथ। और यही भावनात्मक संवेदना महाभारत को युग-युगान्तर के सबसे महान् उपन्यास के रूप में स्थापित करती है।

कुछ लोग महाभारत की कोटि में ही विविध पुराणों का नाम भी ले सकते हैं; पर पुराणों को कला के भाग सृजनात्मक साहित्य में नहीं सम्मिलित किया जा सकता क्योंकि पुराणों में भावनात्मक संवेदना नहीं है केवल धार्मिक प्रतिपादना है। पुराणों में भारतवर्ष का इतिहास मौजूद है और कुछ लोग पुराणों को ऐतिहासिक महत्त्व दे सकते हैं, यद्यपि पुराणों की

ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर शंका करने वालों की एक बहुत बड़ी संख्या है। पर इतना निश्चित है कि पुराणों को साहित्य में स्थान नहीं मिल सकता, भावनात्मक संवेदना के अभाव के कारण।

महाभारत का दृष्टिकोण सामाजिक है, रोमांचक नहीं है और शायद यह भी एक बहुत बड़ा कारण रहा हो महाभारत के साहित्य में न सम्मिलित किये जाने का। धर्म और समाज को एक रूप माने जाने की भारतवर्ष में प्राचीन परम्परा है। बाणभट्ट की कादम्बरी प्रेमाख्यान होने के नाते साहित्य के अन्तर्गत मानी गयी लेकिन वहाँ भी, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, महत्ता अलंकृत भाषा और उसकी शैली को ही मिली।

उपन्यासों की परम्परा भारतवर्ष में नहीं स्थापित हो पायी; मध्य-युगीन समाज ने उपन्यासों को साहित्य में स्वीकृत ही नहीं किया। फ़ारसी साहित्य में उपन्यासों और कहानियों की परम्परा, धर्म और समाजशास्त्र से हटकर, मनोरजंक साहित्य के रूप में चली, लेकिन वहाँ भी साहित्यिक मान्यताओं के प्रति जागरूकता नहीं थी।

उपन्यासों की परम्परा का विकास योरोप में हुआ, यह ऐतिहासिक सत्य है और यह विकास भी सत्रहवीं शती के बाद दिखता है। सत्रहवीं शती के आस-पास एक नई चेतना की लहर योरोप में आई और मनुष्य ने नवीन मान्यताओं को अपनाना आरम्भ किया। यह युग कला के विकास का युग कहा जा सकता है।

कहानी साहित्य के समय के साथ कुछ विशेष ढाँचे बन गए हैं और जो ढाँचा आदिकाल में ही नहीं, बल्कि मध्य-युग तक सबसे अधिक सफल और आसान माना जाता था, वह था कहानी को तीन पात्रों में सीमित करने का—नायक, नायिका और खलनायक। इस खलनायक के स्थान पर खलनायिका भी हो सकती थी और कहानी के प्रसार में नायक के पिता, माता, बन्धु अथवा मित्र बढ़ाए जा सकते हैं। इसी प्रकार खलनायक या नायिका के सहायक पात्र बढ़ सकते हैं। नायिका के भी सहायकपात्र बढ़ते हैं और इन सबका परिणाम यह होता है कि कहानी विस्तार ग्रहण करती जाती है। स्वयम् महाभारत अर्जुन, दुर्योधन और द्रौपदी के त्रिकोण पर स्थापित उपन्यास कहा जा सकता है।

कहानी के इस त्रिकोण वाले नुस्खे में स्वाभाविक रूप से एकरसता आती गयी, और इस नुस्खे को छोड़कर नए-नए ढाँचों पर कहानियों की सृष्टि होती गयी। लेकिन कहानी का मुख्य रस शृंगार रहा है। मनुष्य यौन-सम्बन्धों को अपने जीवन में भोजन के बाद अन्य बातों में सबसे

अधिक महत्त्व देता है। भोजन की समस्या नीरस है, मध्ययुग के सम्पन्न और शिक्षित समाज के सामने भोजन की समस्या स्पष्ट-रूप से कभी रही ही नहीं और इसलिए यौन-भावना ही साहित्य की प्रमुख भावना रही है। इस यौन-भावना का सबसे अधिक कोमल, मधुर और निष्कलंक रूप है रोमांस। हरेक रोमांस की परिणति होती है विवाह। लेकिन इस रोमांस में नायक और नायिका की स्वतन्त्र वृत्ति वांछनीय है। हमारे वर्तमान भारतीय समाज में स्त्री के सामाजिक स्वतन्त्रता न होने के कारण सम-सामयिक रोमांस की रचना कठिन थी। इधर भारतवर्ष में जो सामाजिक क्रान्तियाँ हो रही हैं, उन्होंने इस प्रकार की सामाजिक स्थिति अवश्य उत्पन्न कर दी है कि समसामयिक जीवन पर सफल रोमांस लिखे जाँय, लेकिन यह सामाजिक क्रान्तियाँ जिस नवीन चेतना से प्रेरित हो रही हैं उसने मनुष्य को रोमांस के क्षेत्र से हटाकर भयानक संघर्ष की अवस्था में फेंक दिया है।

पर कला का क्षेत्र संघर्ष की कटुता में तो नहीं है, उसका क्षेत्र संवेदनात्मक आनन्द में है और इसलिए प्रत्येक मनुष्य के जीवन का भाग होने के कारण रोमांस आज भी साहित्य-कला का प्रमुख भाग माना जाता है। जहाँ तक भूख, बेकारी, अत्याचार, शोषण का प्रश्न है ये राजनीति और समाजशास्त्र के अधिक निकट हैं। इनका भावनात्मक भाग ही साहित्य के अन्तर्गत आता है और इसलिए साहित्य इन प्रश्नों में सहायक तत्त्व ही बन सकता है, प्रमुख तत्त्व नहीं बन सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमांस उपन्यास साहित्य की प्रमुख कोटि में आता है। लेकिन शुद्ध रोमांस को सफल बनाने में रोमांस का कवित्व बहुत अधिक सहायक होता है। यहाँ मैंने जो 'कवित्व' शब्द का प्रयोग किया है वह कविता के अर्थ में नहीं वरन् कल्पना की रंगीनी एवं अलंकृत शैली और भाषा के रूप में। रोमांस में प्रायः अतिशय भावुकता (Melodroma) के आ जाने से उसके कवित्व को कुछ थोड़ी-बहुत सहायता तो मिलती है, लेकिन यह अतिशय-भावुकता उसके कहानी तत्त्व को अप्राकृतिक बना देती है जिससे उसका कला-पक्ष निर्बल हो जाता है। रोमांस अधिकांश में युवकों एवं युवतियों को अधिक प्रिय होते हैं। परिपक्व बुद्धि एवं वय वाले व्यक्ति इस रोमांस से अधिक प्रभावित नहीं हो पाते क्योंकि इनका जीवन रोमांस की अवस्था से बहुत अलग हो गया होता है।

मध्य युग में अधिकांश कहानियाँ रोमांस को ही आधार बना कर

लिखी गयी हैं, और इसी रोमांस से मनोवैज्ञानिक कहानियों एवं उपन्यासों का जन्म हुआ है। यहाँ मुझे एक बात और स्पष्ट कर देनी होगी। रोमांस अधिकांश में आदर्शवाद के निकट होता है। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ—कहानी का ढाँचा नायक, नायिका और खलनायक के त्रिकोण के आधार पर होता है। नायक गुण का प्रतिनिधित्व करता है। खलनायक विकृति का प्रतिनिधित्व करता है। नायिका वह पुरस्कार है जो गुणों से युक्त नायक को प्राप्त होती है।

इस स्थान पर यह प्रश्न किया जा सकता है—क्या नायिका का अपना क्रियाशील कोई व्यक्तित्व नहीं होता इस रोमांस में ? और उत्तर स्पष्ट रूप से यह होगा—नहीं ! मध्ययुग में नारी को सम्पत्ति के रूप में ही देखा जाता था और इसलिए मध्ययुगीन मान्यताओं के अनुसार नारी का, कम से कम प्रेमिका के रूप में, कोई पृथक व्यक्तित्व हो ही नहीं सकता था। नायिका को नायक भी प्राप्त कर सकता था, खलनायक भी प्राप्त कर सकता था—प्रमुख संघर्ष तो नायक और खलनायक के बीच में होता था। नायिका की अभिरुचि जरूर नायक की ओर रहती थी क्योंकि गुण को स्वीकार करना नायिका का प्राकृतिक धर्म है; लेकिन वह इतनी अबोध, निरीह और शक्तिहीन होती थी कि स्वयम् में उसका किसी प्रकार का अस्तित्व कहानी के संघर्ष में नहीं आ पाता था।

मध्य युग में कहानियों की जितनी भी कोटियाँ थीं या कहानी के जितने भी प्रकार थे, वे सब के सब इस आदर्शवाद से युक्त रोमांस के अन्तर्गत ही आए। कहानियों का आधार मूल तत्त्व तो रोमांस या प्रेमाख्यान ही होता था। इस रोमांस के अन्तर्गत ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक न जाने कितने प्रकार की कहानियाँ लिखी गयीं। साहित्य की मान्यताओं में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ वर्तमान युग में, जब आदर्शवाद का स्थान साहित्य में यथार्थवाद ने लिया। यथार्थवाद के आते ही रोमांस की धारा शिथिल पड़कर लोप होने लगी, क्योंकि यथार्थवाद स्वयम् में समस्यामूलक है। बौद्धिक मानव कल्पना के क्षेत्र से हट कर यथार्थ की गहराइयों से जूझने लगा और इसी यथार्थ में अपनी संवेदना को प्राप्त करने की प्रवृत्ति उसमें जागृत हुई। इस यथार्थवाद का पहला परिष्कृत रूप हमें मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में दिखलाई देता है।

इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति एकाएक समाज में नहीं प्रवृष्ट हुई, इसका भी क्रमिक विकास ही हुआ। नारी को सम्पत्ति समझने की परम्परा का अन्त होना था और जब स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता समाज

में स्वीकृत हुई तब स्त्री के गुण-दोषों की ओर भी लेखकों का ध्यान गया। खलनायिका की परम्परा मध्ययुगीन अवश्य है, पर यह खल-नायिका प्राय: सामाजिक आस्थाओं के प्रतीक के रूप में ही आती थी। वर्तमान युग में प्रत्येक व्यक्ति गुण-दोष युक्त माना जाने लगा और यही नियम नारी पर भी लागू हुआ। फ्रांस में बालज़ाक के साथ जिस यथार्थ-वादी साहित्य की सृष्टि हुई उसमें परम्परा तो रोमांस की ही थी पर उस रोमांस को यथार्थवादी मनोविज्ञान के ढाँचे में ढाला गया। रोमांस की प्रेम भावना का काल्पनिक सौन्दर्य और व्यक्तित्व हटा लिया गया, उसके स्थान पर यौन-विकृतियाँ आ गयी जिनके बल पर कहानी की क्रिया-प्रतिक्रिया आगे बढ़ी। प्रेम काल्पनिक सौन्दर्य से भरा एक भुलावा है, वह कच्ची उम्र का एक नशा है। प्रेम के अन्दर वाली मूलभावना तो यौन-भावना ही है। इसी यौन-भावना के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर वर्तमान युग की अधिकांश प्रारम्भिक कहानियाँ आधारित हैं। इस प्रकार के उपन्यासों को हम मनोवैज्ञानिक उपन्यास कह सकते हैं।

'मनोवैज्ञानिक उपन्यास' शब्द का जब मैं प्रयोग करता हूँ तब मेरा प्रयोजन उस साहित्य से है जिसमें मानव की मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों को खोलने का प्रयत्न किया गया है। मानव की मनोवैज्ञानिक ग्रंथियाँ प्रमुखत: उसके पारिवारिक जीवन में केन्द्रित होती हैं और परिवार का प्रमुख अंग है—पति-पत्नी का जोड़ा। पति-पत्नी का सम्बन्ध आर्थिक है, सामाजिक है, धार्मिक है— इन प्रश्नों पर विभिन्न मत हो सकते हैं, पर यह सम्बन्ध यौन-सम्बन्ध है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

यह मनोवैज्ञानिक साहित्य अन्तर्मुखी भी हो सकता है, बहिर्मुखी भी हो सकता है। इस प्रकार के साहित्य में संतुलन स्थापित करने में ही कलाकार की सफलता निहित है। इस मनोवैज्ञानिक साहित्य के आधार पर दुनिया मे न जाने कितना अश्लील और समाजविरोधी साहित्य लिखा गया है जो पाठक की उत्तेजना बढ़ाता है और जिसकी बिक्री बहुत अधिक होती है। इस प्रकार का अश्लील साहित्य अधिकांश में बहिर्मुखी होता है। मनोविज्ञान का वहाँ पर केवल बहाना होता है, यौन-विकृतियों को नग्न और आकर्षक रूप में चित्रित करके यौन-भावना से युक्त अबोध और अपरिपक्व युवकों एवं युवतियों में प्रचार पाने के लिए इस साहित्य की रचना होती है। और समाज ने इस प्रकार के साहित्य पर रोक लगा दी है। अगर समाज इस प्रकार के साहित्य पर न भी रोक लगावे फिर भी इस प्रकार का साहित्य कला की कोटि में नहीं आ सकता क्योंकि इसमें

संवेदना नहीं होती, केवल उत्तेजना होती है। इस प्रकार के साहित्य में यौन-विकृतियों से वितृष्णा होने के स्थान में उनके प्रति एक प्रकार का आकर्षण जगाया जाता है।

वर्तमान युग के विकास के साथ इस मनोवैज्ञानिक साहित्य की दूसरी धारा भी प्रस्फुटित हुई अन्तर्मुखी उपन्यास के रूप में। आज का युग ही इस अन्तर्मुखी उपन्यास का युग कहा जा सकता है। इस प्रकार के उपन्यास में स्वयम् उपन्यासकार एक पात्र के रूप में अपने को व्यक्त करता है। अपनी कुण्ठाओं को, विकृतियों को, सीमाओं को वह प्रदर्शित करता है सामाजिक संदर्भ में। वह यह दिखलाना चाहता है कि मनुष्य का हरेक कर्म उसकी प्रवृत्तियों से तथा परिस्थितियों से शासित है। अपने आन्तरिक संघर्ष का प्रक्षेप वह पाठक पर करके अपने प्रति वह उनकी संवेदना प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस काम में उसे जितनी अधिक सफलता मिलती है वह उतना ही सफल कलाकार माना जाता है।

इस अन्तर्मुखी कहानी को मैं मनोवैज्ञानिक कहानी से अलग इसलिए मानता हूँ कि इसमें कलाकार का दृष्टिकोण प्रमुखत: आत्मगत होता है, वस्तुगत नहीं होता। साहित्य का उद्देश्य तो वैयक्तिक सत्य को सामाजिक सत्य के रूप में रखने में होता है, पर इस प्रकार के साहित्य में वैयक्तिक सत्य केवल वैयक्तिक ही रह पाता है, सामजिक नहीं बन पाता। इस वैयक्तिककुण्ठा से उत्पन्न संवेदना को समस्त समाज पर आरोपित करके संवेदना की सृष्टि करने वाला कलाकार वास्तव में महान् कलाकार है, यह सत्य है; लेकिन अभी तक इस दिशा में कलाकारों को पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है।

यह अन्तर्मुखी साहित्य पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक है, यह स्वीकार करते हुए भी जो मैं इसे मनोवैज्ञानिक साहित्य से अलग रख रहा हूँ इसका कारण यह है कि इस साहित्य में सामाजिक मनोविज्ञान का सर्वथा अभाव है। एक तरह से यह वैयक्तिक मनोविज्ञान स्वयं कलाकार की एक समस्या है जिसमें यौन-मनोविज्ञान के साथ-साथ और भी न जाने कितनी प्रकार की समस्याएँ होती हैं। हमारे आधुनिक कथा-साहित्य पर फ़्रायड के यौन-मनोविज्ञान का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है, और इस अन्तर्मुखी कथा-साहित्य का प्रेरणा-स्रोत फ़्रायड ही माना जाता है। फ़्रायड के मतानुसार हर एक मनुष्य का जीवन प्रमुखत: यौन-भावना से शासित होता है। वैसे फ़्रायड के बहुत पहले, सभ्यता के आदि चरण में

ही यौन-पूजा धार्मिक-रूप से स्वीकार हो चुकी थी लेकिन दुनिया इस यौन-परम्परा में ही अपने को सीमित नहीं रख सकी।

अन्तर्मुखी कहानी में अन्य अनगिनती समस्याओं के साथ यौन-समस्या ही प्रमुख होती है। सामाजिक दृष्टिकोण के विस्तार के बाद एक अवस्था ऐसी आती है जहां वह सीमा को पार कर जाता है और यही अवस्था उस असीम सामाजिक दृष्टिकोण के व्यक्ति में सिमट जाने की होती है। सम्भवत: इसीलिए आज के बौद्धिक युग में अन्तर्मुखी-साहित्य की महत्ता बढ़ती जाती है। पर इस अन्तर्मुखी-साहित्य की अपनी निजी कमजोरियाँ भी हैं जिनके ऊपर उठ सकना साधारण कलाकार के लिए नितान्त कठिन हो जाता है। इस प्रकार के साहित्य की एक बहुत बड़ी कमजोरी की ओर इस पुस्तक के प्राथमिक परिच्छेद में मैं संकेत कर चुका हूँ। और वह है इस प्रकार के साहित्य का कुछ इस प्रकार से समाज विरोधी हो जाना जिस पर समाज दण्ड की कोई भी व्यवस्था न कर सके। इस प्रकार के साहित्य में कलाकार अपनी विकृतियों और कुण्ठाओं के बावजूद अपने प्रति संवेदना उत्पन्न करता है। पर होता प्राय: ऐसा है कि कलाकर अपनी विकृतियों और कुण्ठाओं के प्रति संवेदना जागृत कर देता है। विकृतियों और कुण्ठाओं से ग्रस्त ब्यक्ति के प्रति संवेदना कल्याणकारी तत्व होने के नाते सामाजिक है, विकृतियों और कुण्ठाओं के प्रति संवेदना समाज विरोधी तत्त्व है।

चौथी कोटि में आते हैं सामाजिक उपन्यास। दुनियाँ में सामाजिक उपन्यासों का युग समाप्त हो रहा है अधिकांश लोगों का ऐसा मत है, पर मेरा मत यह नहीं है। कुछ वर्ष पहले तक हमारे अधिकांश उपन्यास सामाजिक होते थे। सामाजिक कुरीतियो को दूर करने में साहित्य एक बहुत बड़ा सहायक तत्त्व माना जाता है। छुआछूत, अछूतोद्धार, विधवाओं की समस्या, पिछड़े वर्ग की समस्या, अशिक्षा, गन्दगी—न जाने कितने सामाजिक दोष दूर किये जाने चाहिये। राज्य-व्यवस्थाएँ इन कुरीतियों को दूर करने की जिम्मेदार अवश्य हैं, लेकिन इन प्रश्नों पर भावनात्मक चेतना को जगाने की जिम्मेदारी साहित्य पर भी है।

इस कोटि के साहित्य को हम प्रचारात्मक साहित्य कह सकते हैं और अधिकांश में इस प्रकार के साहित्य की जीवन अवधि बहुत लम्बी नहीं होती। यह साहित्य समय की माँग के रूप में ही आता है। लेकिन एक समर्थ और सक्षम कलाकार अपने शिल्प के द्वारा इस प्रकार के साहित्य

को भी अमरता प्रदान कर सकता है, अगर वह उस समस्या से एकरस हो जाय जिस पर वह लिख रहा है।

सामाजिक उपन्यास हमेशा लिखे गए हैं और हमेशा लिखे जायेंगे। समाज की तात्कालिक समस्याओं के रूप बदलते रहते हैं, लेकिन यह समस्याएँ तब तक रहेंगी जब तक समाज का अस्तित्व है। हरेक समस्या अपना निदान चाहती है। आज हमारे समाज की बहुत-सी समस्याएँ दूर हो गयी हैं तो उनके स्थान पर उतनी ही महत्त्वपूर्ण अन्य समस्याएँ आ गई हैं। दुनिया में विचार-नियन्त्रण (Regimentation of thought) का जो दौर समाजवादी देशों में चला, वह इसी सामाजिक सुधारों को ध्यान में रखकर।

लेकिन यह सामाजिक उपन्यास तात्कालिक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में कितना भी सहायक हों, उन समस्याओं के सुलझ जाने के बाद इन उपन्यासों का महत्त्व लोप हो जाता है। इस प्रकार का साहित्य वस्तुत: व्यावासायिक साहित्य बन सकता है क्योंकि यह समय की माँग को पूरा करता है। पर इस प्रकार के सामाजिक उपन्यासों में एक कमी भी रहती है, जिसे समझ लेना बेजा न होगा।

सामाजिक समस्याओं का कौन-सा निदान सही है, और कौन-सा निदान ग़लत है, इसका निर्णय किसके हाथ में हैं ? साहित्यकार स्वयम् कोई निदान नहीं दे सकता, निदान देना बौद्धिक या शास्त्रीय प्रक्रिया है। प्राय: साहित्यकार अन्य बौद्धिक लोगों द्वारा दिये हुए निदान को ही अपनाता है और उस बौद्धिक निदान की वह भावनात्मक अभिव्यक्ति करता है। पर यह बौद्धिक निदान उसे कुछ अजीब-अजीब स्थलों से प्राप्त होता है। समाजवाद के आने के पहले तक यह बौद्धिक निदान उसे सामाजिक-सुधारकों के मत से मिलता था। समाजवाद के आने के बाद यह निदान उसे शासन से मिलने लगा। सामाजिक-सुधारकों से निदान ग्रहण करते समय साहित्यकार को यह स्वतन्त्रता रहती थी कि वह किसी निदान-विशेष को ग्रहण करे अथवा न करे, समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उसे इस प्रकार की कोई स्वतन्त्रता नहीं है। समाजवादी परम्परा में साहित्यकार की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—वह समाज का एक अंग है, और उस अंग को समस्त समाज के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना है।

यह निदान, चाहे वह समाज-सुधारकों से लिया जाय या वह शासन से लिया जाय, सही भी हो सकता है, ग़लत भी हो सकता है। अगर

वह निदान समय की कसौटी पर सही साबित हुआ तो ठीक, लेकिन अगर वह ग़लत साबित हुआ तो वह साहित्यकार के नाम पर एक प्रकार का कलंक होगा।

सामाजिक समस्याएँ अस्थायी या क्षणिक होती हैं, पर इनका निदान मानव की शाश्वत भावनात्मक समस्याओं में है। ये समस्याएँ अनादिकाल से मानव के सामने रही हैं और ऐसा दिखता है कि इनका कोई भी ऐसा निदान अभी तक नहीं पाया जा सका है जो सर्वमान्य हो। कुछ लोगों का मत है कि इन समस्याओं का बौद्धिक निदान मिल ही नहीं सकता, इनका एकमात्र निदान जो हो सकता है वह भावनात्मक निदान है। इस भावनात्मक निदान में बुद्धि रहती अवश्य है, लेकिन वह गौण-रूप में।

उदाहरण के लिए हम युद्ध को ही ले लें। युद्ध के विनाशात्मक ताण्डव से मानव अनन्त काल से त्रस्त रहा है। युद्ध के पीछे मानव की न जाने कितनी प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। एक व्यक्ति की सत्ता के प्रति महत्त्वाकांक्षा एक कारण हो सकता है। एक राष्ट्र द्वारा अनेक राष्ट्रों का शोषण भी एक दूसरा कारण रहा है। राज्य विस्तार, दूसरे देशों के मामलों में हस्तक्षेप, मज़हबों का विस्तार, सिद्धान्तों का आरोपण—न जाने कितने कारण युद्ध के रहे हैं। लेकिन युद्ध की प्रवृत्ति हिंसा के रूप में मानव में सदा से मौजूद रही है, और यही हिंसात्मक प्रवृत्ति युद्ध का मूल कारण है। हिंसा की प्रवृत्ति भावनात्मक है, बौद्धिक नहीं; बुद्धि द्वारा इस प्रवृति पर नियन्त्रण भले ही हो सकता हो। इस प्रवृत्ति का दमन भावनात्मक प्रक्रिया है।

भूख, बेकारी—ये सब मानव के सामने शाश्वत प्रश्न रहे हैं। भूख और बेकारी के भी अनगिनत कारण हो सकते हैं। फसलों का नष्ट हो जाना, दुर्भिक्ष, निर्धनता कितने ही कारण हैं। इस भूख को दूर करने में सहायक हो सकती है मानव समाज का संवेदनात्मक और सहानुभूति-युक्त दृष्टिकोण। फसलें नष्ट होती हैं एक विशेष स्थान की, दुनिया का सामूहिक अन्न भण्डार तो इतना है कि कोई आदमी भूखों मर ही नहीं सकता यदि विश्व के इस अन्न-भण्डार का उचित वितरण हो सके। मानव का स्वाभाविक गुण है दया, न्याय, सहानुभूति। पर सामाजिक व्यवस्थाओं और सीमाओं में जकड़ा हुआ मानव अपने गुणों को बरत ही नहीं पाता। हर जगह प्रतिक्रियात्मक विकृतियों का ही साम्राज्य उसे दिखता है।

बड़े-बड़े बौद्धिक प्राणियों, समाजशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों को भी कहीं न कहीं यह स्वीकार करना पड़ता है कि इन शाश्वत समस्याओं का निदान भावनात्मक ही हो सकता है। राजनीतिक अथवा सामाजिक दर्शन इनके निदान की ओर एक इङ्गित के रूप भर में ही आ सकता है। प्राचीनकाल में कहानी को धर्मशास्त्र तथा समाजशास्त्र के अन्तर्गत दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करने की जो प्रथा थी वह इसी अनुभव के कारण। पर जब कहानी ने कला के क्षेत्र में अपना निजी विशिष्ट स्थान बना लिया है तब कहानी की कलात्मक महत्ता को छोड़ना नितान्त असम्भव हो गया। ऐसी हालत में विभिन्न समस्याओं को कहानी का भाग बना कर उनका भावात्मक निदान देने की प्रथा पिछले कई दशकों से चल पड़ी है। ऐसी कहानियाँ समस्यामूलक कहानियाँ कही जाती हैं।

साहित्य में वर्तमान युग समस्यामूलक उपन्यासों का युग है। सामाजिक उपन्यासों और समस्यामूलक उपन्यासों में अन्तर यह है कि जहाँ सामाजिक उपन्यासों में निहित समस्याएँ सामाजिक होती हैं और उनका एक निश्चित क्रियात्मक निदान रहता है वहाँ समस्यामूलक उपन्यासों में शाश्वत समस्याओं का समावेश होता है और उनमें एक प्रकार के भावनात्मक निदान का संकेत भर हुआ करता है। जहाँ समस्यामूलक उपन्यास किसी निश्चित निदान को निर्धारित करता है वहीं वह राजनीतिक प्रचार का माध्यम बन कर अपनी कला को खो देता है। वैसे समस्यामूलक उपन्यास में कलाकार का एक निश्चित दृष्टिकोण होता है, किसी एक निश्चित दर्शन को वह प्रतिपादना करता है, लेकिन यही समस्यामूलक उपन्यास की कमजोरी है जिसके ऊपर एक समर्थ और सक्षम कलाकार ही उठ सकता है। साधारण दर्शनशास्त्र में और राजनीतिक दर्शनशास्त्र में भेद इतना है कि साधारण दर्शनशास्त्र का क्षेत्र वैयक्तिक विश्वास है, राजनीतिक दर्शन का क्षेत्र सामाजिक कर्म है। भावना वैयक्तिक क्षेत्र की चीज़ है; सामाजिक कर्म की ओर प्रेरित करती है उत्तेजना।

जब मैं कहता हूँ कि आज का युग ही समस्यामूलक उपन्यासों का है, तब मैं इन अन्तर्मुखी उपन्यास को समस्यामूलक उपन्यास के अन्तर्गत कुछ अलग कोटि में सम्मिलित कर लेता हूँ। अन्तर्मुखी उपन्यास का दर्शन सामाजिक अथवा राजनीतिक नहीं है, वह शुद्ध रूप से वैयक्तिक है। अन्तर्मुखी उपन्यासों का आचार्य सार्त्र अपने को दार्शनिक कहने में

गर्व करता है। उसके दर्शन का स्वागत दुनिया ने नहीं किया, दुनिया ने उस दर्शन को समझा ही नहीं, और एक दार्शनिक की हैसियत से उपेक्षित रहा। लेकिन जब उसने अपने दर्शन को अपने उपन्यासों के माध्यम से प्रतिपादित किया तब लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। इसका कारण यह है कि सार्भ का दर्शन वस्तुगत न होकर आत्मगत है, जब कि दर्शनशास्त्र स्वयम् में वस्तुगत होता है। आत्मगत दर्शन बौद्धिक हो ही नहीं सकता, वह केवल भावनात्मक हो सकता है। और वह भावना भी बौद्धिक तारतम्य के अभाव के कारण अन्तर्मुखी ही हो सकती है।

छठी कोटि में आता है ऐतिहासिक उपन्यास। ऐतिहासिक उपन्यास दो कोटियों में विभक्त किये जा सकते हैं—प्रथम तो वे उपन्यास जिनमें इतिहास की प्रतिपादना की जाती है, दूसरी कोटि के उपन्यास वे हैं जिनमें इतिहास को आधार बना कर अन्य बातों की प्रतिपादना की जाती है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रथम कोटि के उपन्यास ही ऐतिहासिक उपन्यास कहला सकते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के जो पात्र लिये जाते हैं उनके ऐतिहासिक जीवन-क्रम में हेर-फेर करना सम्भव नहीं, नहीं तो वह ऐतिहासिक प्रामाणिकता खो देंगे। हाँ, उनके उस ऐतिहासिक जीवन-क्रम को उपन्यासकार अपने निजी दृष्टिकोण से देखकर एक भावनात्मक वातावरण की रचना करके अपनी भावना को पाठकों पर आरोपित करता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों का कथासूत्र प्रायः शिथिल होता है क्योंकि ऐतिहासिक प्रामाणिकता की मौजूदगी में कल्पना से काम लेना खतरनाक काम समझा जायगा। ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय कथाकार को सतर्क रहना पड़ता है कि ऐतिहासिक प्रामाणिकता को अक्षुण बनाए रहते, किस तरह और किन स्थलों पर काल्पनिक चरित्रों एवं घटनाओं का सृजन करके कथानक को सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

मुझे ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम दिखे जिनका कथानक पुष्ट कहा जा सके। फिर भी ऐतिहासिक उपन्यासों का साहित्य में बहुत बड़ा महत्त्व माना जाता है। हमारी जड़ें हमारे इतिहास में हैं और हमें अपने इतिहास के प्रति एक प्रकार का मोह रहता है। मानव-विकास के क्रम को अध्ययन करने में भी इतिहास बहुत बड़ा सहायक तत्त्व समझा जाता है। हमारे इतिहास में हमारे राष्ट्र का सम्मान भी हो सकता है,

अपमान भी हो सकता है। यह अपमान और सम्मान उस इतिहास के भावनात्मक उत्था पर बहुत अधिक निर्भर है। कमज़ोर कथासूत्रों के स्थान पर कल्पना की रंगीनी से लदे हुए वर्णनों से उपन्यास को रोचक बनाया जा सकता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में कुछ ऐसे उपन्यास आ सकते हैं जिनमें ऐतिहासिक चरित्र न हो, केवल ऐतिहासिक वातावरण से उस ऐतिहासिक समाज तथा उसकी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया हो। ऐसे उपन्यासों में कल्पना को खुल-खेलने की काफी छूट मिलती है। इस छूट के कारण अधिकांश में कल्पना इस क़दर बहक जाती है कि वह अस्वाभाविकता का रूप धारण कर लेती है। जो आज के जीवन में सत्य नहीं है उसे प्रदर्शित करने का एक अच्छा मार्ग है—उसे ऐतिहासिक वातावरण में बाँध देना। और इसी लिए दूसरी कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यास न कहना अधिक उचित होगा। यह रोमांचक हो सकते हैं और अधिकांश में होते भी हैं, या फिर ये समस्यामूलक होते हैं।

पौराणिक उपन्यासों का साहित्य में एक स्थान है, यद्यपि इन्हें व्यक्तिगत रूप से मैं समस्यामूलक अथवा रोमांचक उपन्यासों की कोटि में रखना अधिक पसन्द करूँगा। पौराणिक कथाओं में ऐतिहासिकता लाकर अपनी जाति और धर्म का गौरव बढ़ाया जा सकता है, लेकिन वर्तमान युग में ये पौराणिक उपन्यास इसलिए नहीं लिखे जाते। बात कटु लग सकती है लेकिन मेरा ऐसा अनुभव है कि पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं को पसन्द करने वाले अधिकांश में वह लोग हैं जो सुदृढ़ कहानी की रचना नहीं कर सकते और इसलिए प्रचलित कहानी की वह शरण लेने में श्रेय देखते हैं। नई कहानी गढ़ना आसान काम नहीं है, और प्रचलित ढांचों से हट कर मनोरंजक और मौलिक कहानी गढ़ना तो बहुत कठिन है। इसलिए यदि लोककथाओं, पुराणों या इतिहास की कहानियों को आधार बना कर उपन्यास लिखा जाय तो इसमें मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। काल और युग की सीमा को तोड़कर ऐसी कहानियाँ बढ़ सकेंगी, इस पर भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आखिर यह कहानियाँ जो पुराणों में, लोककथाओं में अथवा इतिहास में हैं, वे काल और युग की सीमा को तोड़कर ही तो आज तक जीवित हैं।

उपन्यासों के और भी प्रकार हो सकते हैं, पर उनके स्पष्ट रूप मेरे सामने नहीं हैं। अपने सीमित अनुभवों और ज्ञान के बल पर उपन्यासों के सम्बन्ध में जो कुछ कह सकता हूँ, वही मैंने कहा है।

तेरहवाँ परिच्छेद

उपन्यास और लम्बी कहानी के शिल्प

दुनिया में उपन्यास के नाम पर जो पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उनमें अधिकांश लम्बी कहानियाँ होती हैं। यह बात मैं आरम्भ में ही स्पष्ट कर चुका हूँ और मेरा ऐसा मत है कि उपन्यास का शिल्प कुछ अजीब तरह का उलझा हुआ और दुरूह होता है। यह भी निश्चित है कि उपन्यास को लम्बी कहानी की अपेक्षा कुछ अधिक ऊँचे स्तर पर देखा जाता है क्योंकि मानवीय संवेदना को प्रभावित करने की जितनी क्षमता उपन्यास में होती है उतनी लम्बी कहानी में नहीं समझी जाती—कम से कम आज के बौद्धिक वातावरण में।

उपन्यास और लम्बी कहानी के एक ही क्षेत्र में आते हुए भी इन दोनों के शिल्पों में बड़ी विभिन्नता होती है और एक ही व्यक्ति में उपन्यास और लम्बी कहानी का सफल शिल्प कम ही मिलता है। इन दोनों के शिल्प पर थोड़ा-सा प्रकाश डालना मैं इस स्थान पर आवश्यक समझता हूँ।

मनुष्य में कथा गढ़ने की एक प्रवृति होती है और इसी प्रवृति पर समस्त कहानी कला आधारित है। झूठ बोल कर बहाना बनाने की बच्चों में जो कभी-कभी आदत पड़ जाती है वह इसी प्रवृति के कारण। अपने दैनिक जीवन में हम न जाने कितना झूठ बोलते हैं और कल्पना से किस्से गढ़ लिया करते हैं अपने झूठ को प्रतिपादित करने के लिए। लम्बी हाँकनों के अर्थ ही होते हैं कल्पनाजनित कहानी द्वारा अपनी अतिशयोक्ति को स्थापित करना।

गप हांकना के माने झूठी कहानी को इस प्रकार कहना कि वह सच्ची मालूम हो। कहानी के लिए बँगला में जो 'गल्प' शब्द प्रचलित है वह इसी गप का रूपान्तर है। लेकिन यह गपें छोटी कहानियों के रूप में ही हो सकती हैं। इन्हीं गपों का एक रूप है चुटकुला। चुटकुले में कहने वाले की हास्य-अभिव्यंजना (Sense of Humour) भी महत्त्व की होती है। हम कल्पना द्वारा ऐसी मनोरंजक परिस्थिति को गढ़ते हैं तथा उसमें कुछ ऐसे हास्य और व्यंग को सम्मिलित करते हैं कि सुनने वाले हँस पड़ें।

जहाँ चुटकुलों का प्रयोजन होता है हास्य की सृष्टि, वहाँ गप का प्रयोजन होता है लोगों में कौतूहल जगाना। गप्प प्राय: अपने में ही होती है जहाँ गप हाँकने वाला नायक बनता है और अपनी कल्पना में वह नायिका को, खल नायक को जन्म देता है। शिकारियों की गप्पें तो प्रसिद्ध होती ही हैं, भूत-प्रेतों से भिड़ने वालों की संख्या पिछले काल में काफी थी। पर स्वयम् नायक बन जाने से इस गप पर अविश्वास भी काफी किया जाता था, इसलिए धीरे-धीरे स्वयम् नायक न बन कर किसी अन्य पुरुष को नायक बनाने की प्रथा चल पड़ी, लेकिन इस अन्य पुरुष के साथ गप हाँकने वाले का तादात्म्य अवश्य होता था।

कहानी का कुतूहल-तत्व विस्तार चाहता है और इसलिए धीरे-धीरे कहानी लम्बी होती गयी। जहाँ कहानी किसी दृष्टान्त के लिए कही जाती है वहाँ वह सीमा के अन्दर रहती है। शुद्ध कुतूहल की कहानियों में विस्तार ग्रहण करने की प्रवृति होती है और यहीं कहानीकार की क्षमता की परख है, कि वह अपनी कहानी को कितना अधिक विस्तार दे सकता है। देहातों में जो कहानी कहने वाले लोग हैं—अब तो यह परम्परा मिटती सी जा रही है—वह एक कहानी आरम्भ करके उसे इस कदर बढ़ाते रहते हैं कि सुनने वाले सो जाँय।

एक ही कथा को बहुत अधिक खींचना आसान नहीं है इसलिए एक कथा में कई अन्तर्कथाएँ सम्मिलित कर लेने की प्रथा चली जिससे कहानी अधिक से अधिक लम्बी होती जाय। यह अन्तर्कथाएँ मूल कहानी का भाग न होते हुए भी कहीं न कहीं मूल कथा से सम्बद्ध होती थीं और इस प्रकार कहानी का वह रूप विकसित हुआ जिसे हम उपन्यास कहते हैं।

कहानी को साहित्य का भाग स्वीकार किया गया कहानी में न जाने कितने परिष्कार के बाद। और इसलिए लोककथाओं में कहानी के जो आदि-रूप मिलते हैं उनमें और साहित्यक कहानी के रूप में काफी अधिक अन्तर दिखता है। साहित्य में आने के बाद कहानी का रूप निखरा, स्पष्ट सीमा रेखाएँ उभरीं और कहानी के विभिन्न शिल्पों का विकास हुआ।

उपन्यास और लम्बी कहानी के शिल्प में बहुत बड़ा अन्तर है; लेकिन यह कहना कि किसका शिल्प श्रेष्ठ है, बड़ा कठिन है। लम्बी कथाएँ कहने के लिए एक कथा में अनेक उपकथाओं को सम्मिलित कर लेना स्वाभाविक प्रवृत्ति तो है, लेकिन ये उपकथाएँ इस प्रकार सम्मिलित की जायेँ कि वह मुख्य कहानी के भाग ही दिखें, बड़ा मुश्किल है। और इसलिए हमें उपन्यास के शिल्प पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना पड़ेगा।

मूल कहानी से पृथक् उपकथा का कोई महत्त्व न होना चाहिये—उपन्यास का यह आधारमूल तत्त्व है। यदि उपकथाओं का अपना निजी अस्तित्व है तो यह उपकथाएँ कथाओं के संग्रह के रूप में आएँगी, यह एक उपन्यास की रचना करने में असमर्थ होंगी। ऐसा नहीं कि उपकथा में उसकी निजी भावनात्मक अभिव्यक्ति न हो या उसमें संवेदनात्मकता न हो, इनका होना तो नितान्त आवश्यक है; पर यह सब मूल कथा के संदर्भ में होना चाहिए, उससे तारतम्य स्थापित करते हुए।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक उपन्यास में दो, तीन, चार या इससे भी अधिक कहानियाँ एक साथ चलती रहती हैं। यह कहानियाँ भावनात्मक अभिव्यक्ति में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हो सकती हैं; पर इन कहानियों को एक सूत्र में बाँधने वाली एक प्रमुख कहानी अवश्य हुआ करती है जो तत्काल प्रमुख भले ही न दिखे पर किसी स्थान पर चल कर जो इन कहानियों की एकसूत्रता को स्थापित कर देती है। वह प्रमुख कहानी बड़ी ढीली-ढाली हो सकती है, उसका इन उपकथाओं से अलग अस्तित्व भी अनुभव न किया जा सकता हो। कभी-कभी यह प्रमुख कहानी एक भाव (Idea के रूप में ही प्रकट होकर रह जाती हो; लेकिन उपन्यास का भावनात्मक और संवेदनात्मक सार इस प्रमुख कहानी में ही रहता है।

उपन्यास में देश और काल की सीमाओं का होना अनिवार्य नहीं है, उसका विस्तार असीम है, पर मनुष्य सीमित है इसलिए मनुष्य तो उपन्यास को अपनी सीमाएँ देता ही चलेगा। विषय-वस्तु की विभिन्नता से उपन्यासों की शक्ति और क्षमता को भी कभी-कभी बड़ा सहारा मिलता है क्योंकि उन विभिन्न विषयों में निहित एकरूपता को प्राप्त करा देना उपन्यासकार की बहुत बड़ी उपलब्धि समझी जा सकती है।

जितनी बातें उपन्यास के सम्बन्ध में कह चुका हूँ उनसे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उपन्यास का शिल्प प्रमुखत: बौद्धिक है। उपन्यासकार को अपने शिल्प के प्रति काफी सचेत रहना पड़ता है। पर क्या उपन्यास का शिल्प इन बौद्धिक नियमों से बाँधा जा सकता है, यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है।

और मेरा ऐसा मत है कि बौद्धिक नियमों से कला का शिल्प केवल एक हद तक ही बँध सकता है। उपन्यास अन्ततोगत्वा सृजनात्मक कला है, इसलिए बुद्धि में तो उपन्यास का स्रोत नहीं है। बुद्धि का काम केवल सहारा भर देना है। उपन्यास के सफल कथा-वस्तु को बाँधने की क्षमता

बुद्धि नहीं प्रदान करती, यह क्षमता तो कलाकार को जन्म से ही प्राप्त होती है। पर इस प्रवृत्ति के विकास में बुद्धि बहुत बड़ा सहायक तत्त्व है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। जिसे हम व्यावसायिक साहित्यकार कहते हैं, वह बुद्धि का सहारा लेकर एक अच्छा-खासा उपन्यास तो लिख ही सकता है, वह महान् और सफल उपन्यास भले ही न हो। आज जो प्रचार कार्य में भावनात्मक व्यक्तीकरण के लिए साहित्य का सहारा लेने की प्रथा चल पड़ी है, उसमें कहानी की अपेक्षा उपन्यास अधिक उपयुक्त माध्यम समझा जाता है क्योंकि उपन्यास की विभिन्न उपकथाओं में उन अनगिनती समस्याओं एवं दृष्टिकोणों को रखा जा सकता है जो प्रचार के विषय के अन्तर्गत आते हैं।

प्रचार बौद्धिक है, और बुद्धि का आधार-शिला तर्क है। तर्क में विस्तार का कहीं अन्त नहीं। यह प्रचार दूसरे द्वारा कही बातों का हो सकता है, यह प्रचार स्वयं अपनी बातों का भी हो सकता है। ऐसी हालत में उपन्यासों में विस्तार का दोष प्रायः दिखने लगता है। अधिकांश उपन्यासों के सैकड़ों पृष्ठ तर्क-वितर्क से भरे रहते हैं। यह तर्क-वितर्क कुछ थोड़े से बौद्धिक लोगों को भले ही पसन्द आवे, भावनात्मक अभिव्यक्ति के अभाव के कारण इन तर्कों में साधारण पाठक को कोई दिलचस्पी नहीं हुआ करती।

तर्क-वितर्क वह भी छोटे-छोटे टुकड़ों में वहीं सफल हो सकते हैं जहाँ तक वह उपन्यास के कथानक वाले कर्म की भावनात्मक अभिव्यक्ति को निश्चित बौद्धिक रूप देने में सहायक हों। कहानी की कला कर्म और गति की है वह चिन्तन और मनन की नहीं है। मनन और चिन्तन का क्षेत्र अलग है। मनन और चिन्तन को सहायक तत्त्व के रूप में ही लिया जा सकता है। वैसे आज के युग में उपन्यास में मनन और चिन्तन को महत्ता दी जाती है, अधिकांश उपन्यासों में प्रति-पादना के रूप में तर्कों की भरमार रहती है। लेकिन इस प्रकार के उपन्यास केवल एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रहेंगे, उनका सार्वदेशिक और सार्वभौमिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। यही नहीं, समय की गति के साथ उन उपन्यासों का मनन और चिन्तन भी असामयिक (out of Date) होता जाता है और इस प्रकार के उपन्यासों की महत्ता नष्ट होती जाती है।

बात थोड़ी-सी अप्रिय अवश्य है, लेकिन उसे कह देना मैं इस स्थल पर आवश्यक समझता हूँ। प्रायः यह होता है कि उपन्यासकार एक बहुत मोटे उपन्यास को लिखने के लोभ में इस तरह के तर्क-वितर्क से पन्ने

पर पन्ने रंगता चला जाता है। उनको पढ़ने पर एक अजीब तरह की निराशा होती है, अकसर वितृष्णा सी पैदा हो जाती है।

उपन्यासकार को इन बातों के प्रति काफी सतर्क रहना चाहिये। कला का शिल्प भावनात्मक अभिव्यक्ति का होता है; और इसलिए उपन्यास में कथा-वस्तु का विस्तार ही एक मात्र विस्तार माना जा सकता है। अन्य प्रकार के विस्तार उपन्यास को शिथिलता प्रदान करते हैं।

लम्बी कहानी का शिल्प उपन्यास के शिल्प की अपेक्षा दुरूह तो नहीं हैं, पर वह उपन्यास के शिल्प की अपेक्षा कठिन अवश्य है। लम्बी कहानी में केवल एक कहानी रहती है और कुछ इने गिने पात्र रहते हैं। ऐसी हालत में लम्बी कहानी का शिल्प बड़ा कसा हुआ और सुदृढ़ होना चाहिये। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, लम्बी कहानी रोमांस या घटना-प्रधान कहानी कहने में ही सफल होती है, लम्बी कहानी समस्यामूलक बड़ी मुश्किल से बन पाती है। एक कहानी का बहुत लम्बा विस्तार कठिन है—यहीं लम्बी कहानी की मर्यादा है।

आम तौर से समस्यामूलक न होने के कारण लम्बी कहानी का विस्तार तर्क-वितर्क या सिद्धान्तों की प्रतिपादना से करना प्रायः हास्यास्पद हो जाया करता है—यह विस्तार केवल उपन्यास में ही सम्भव है। लम्बी कहानी का विस्तार प्रायः कवित्वमय वर्णनों से ही किया जा सकता है जो रोमांस के मूल अवयव हैं। वैसे अन्तर्मुखी शिल्प प्रायः अपने को लम्बी कहानी में ही सन्निहित रखता है क्योंकि अन्तर्मुखी साहित्य स्वयम् में सीमित और संकुचित है। इस अन्तर्मुखी कहानी का विस्तार तर्क-वितर्क और सिद्धान्तों की प्रतिपादना से किया जाता है।

आज साहित्य के नाम पर प्रायः अन्तर्मुखी लम्बी कहानियाँ ही दिखाई देती हैं, या कहना यह उचित होगा कि केवल अन्तर्मुखी लम्बी कहानियों का ही साहित्य में उल्लेख होता है, और इसका कारण है लम्बी कहानी के शिल्प की कठिनाई। बहिर्मुखी लम्बी कहानी में कथा का विस्तार चाहिये और विस्तृत कथा का सृजन आसान काम नहीं है। यह युग रोमांस का नहीं है, इस बात से तो इनकार किया नहीं जा सकता; लम्बी कहानी के लिए मनोवैज्ञानिक क्षेत्र ही सब से उपयुक्त समझा जाता है।

मनोवैज्ञानिक साहित्य में चरित्र-चित्रण के माध्यम से कथा का विस्तार सम्भव ही नहीं, कहीं-कहीं बड़ा रोचक हो जाया करता है। इन मनोवैज्ञानिक कहानियों को कवित्वमय वर्णनों से भी यथेष्ट बल प्राप्त

होता है। पर इस प्रकार का वर्णन करना हरेक कलाकार के वश में नहीं है। और इस प्रकार के वर्णनों में एक विशेष प्रकार के शिल्प की आवश्यकता होती है जो हरेक कलाकार के पास नहीं है।

यहाँ मैं शिल्प के मोटे-तौर से जो दो प्रकार हैं, उनका भी उल्लेख कर दूँ। एक शिल्प है अलंकृत, दूसरा शिल्प है गति प्रधान। अलंकृत शिल्प की गति बड़ी धीमी होता है, पच्चीकारी के क्रम से एक-एक चरित्र को गढ़ा जाता है। यही नहीं, घटनाओं के सूक्ष्म वर्णनों से सहारा लिया जाता है। लम्बी कहानियों में प्रायः यह अलंकृत शैली बड़ी सफल मानी जाती है। गति प्रधान शैली आधुनिक युग की मनोवृत्ति के अनुसार है। कुछ थोड़ से वर्णन से, चरित्र के दो एक कर्मों से वहाँ चरित्र की स्थापना कर दी जाती है। बड़े उपन्यासों में यह गति-प्रधान शैली ही प्रायः सफल हुआ करती है।

घटना-प्रधान कहानियों में कथा-वस्तु का विस्तार स्वाभाविक रूप से होता है। एक कहानी में न जाने कितनी घटनाएँ हो सकती हैं और यह घटनाएँ स्वयम् में इतनी अधिक रोचक हो सकती हैं कि वहाँ अलंकृत शैली की आवश्यकता ही न पड़े।

घटना-प्रधान तथा जासूसी उपन्यासों को साहित्य में स्थान नहीं दिया जाता। इसका कारण यह है कि इन कहानियों में भावनात्मक संवेदना का एक तरह से अभाव-सा होता है। पर मेरा मत है कि घटना-प्रधान कहानियों में भी संवेदनात्मकता हो सकती है। और मैं तो यह पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि कहानो अभी विकास के क्रम में है, कहानियों के नित्य नवीन रूप प्रकट हो रहे हैं।

कहानी का एक नया रूप जिसका उल्लेख करना मैं भूल गया था, वैज्ञानिक कहानी है। अभी तक मैंने जितनी वैज्ञानिक कहानियाँ पढ़ी हैं उनमें कौतूहल है, कुछ मनोरंजन है, कुछ थोड़ी-सी वैज्ञानिक जानकारी है, लेकिन उन कहानियों में संवेदात्मक अभिव्यक्ति का मुझे अभाव दिखा। वैसे उनमें किसी वर्ग विशेष के लिए संवेदनात्मकता हो सकती है। इन वैज्ञानिक कहानियों को साहित्य में स्वीकार करना आरम्भ हो गया है। यह वैज्ञानिक कहानो लम्बो कहानियों के लिए बड़ी उपयुक्त है।

साधारण पाठक के लिए लम्बी कहानी उपन्यास की अपेक्षा अधिक रोचक और सुगम होती है। शिल्प का उलझाव और शिल्प की बारीकी लम्बी कहानी में होते अवश्य हैं, लेकिन पाठक को इनका पता नहीं

चलता। थोड़े से पात्रों और एक ही कथा की विभिन्न घटनाओं को वह अच्छी तरह समझ लेता है। उपन्यासों में तो साधारण पाठक कभी-कभी बुरी तरह उलझ जाता है, लेकिन लम्बी कहानियों में उसे यह उलझन नहीं दिखती। लम्बी कहानी अपने प्रभाव में उपन्यास की भाँति व्यापक तथा सशक्त भले ही न हो, पर मनोरंजक वह प्राय: उपन्यास की अपेक्षा अधिक होती है।

कहानी का मूल शिल्प लम्बी कहानी लिखने का शिल्प है और कहानी का जो भी प्रकार कभी विकसित होता है, वह लम्बी कहानी के रूप में। जासूसी उपन्यास, वैज्ञानिक उपन्यास, घटना-प्रधान उपन्यास—ये सब लम्बी कहानियों के रूप में ही विकसित हुए हैं और हो रहे हैं। उपन्यास लम्बी कहानी का ही विकसित रूप है।

लेकिन लम्बी कहानी के लेखक के लिए अनिवार्य है कि वह कहानी को अच्छी तरह से बाँध सके। कहानी का अच्छा गठन ही लम्बी कहानी का प्राण है। जहाँ उपन्यास में कथा कहने का शिल्प प्रमुख होता है वहाँ लम्बी कहानी में कथा बाँधने का शिल्प प्रमुख हुआ करता है। अधिकांश में घटना प्रधान लम्बी कहानियाँ अधिक रुचिकर होती हैं।

कौतूहल के क्षेत्र में और मनोरंजन करने में लम्बी कहानी उपन्यास की अपेक्षा अधिक सक्षम होती है,। लेकिन जहाँ तक भावनात्मक संवेदना का प्रश्न है, उपन्यास इसमें अधिक सशक्त है। भावना को गति वहन करती है, इस बात को मानते हुए हमें यह भी मान पड़ेगा कि उपन्यास में लम्बी कहानी की अपेक्षा गति अधिक है। कहानी की यह गति है क्या ? तेजी से घटना क्रम के चलने में एक प्रकार की गति अवश्य है, लेकिन वह कला की गति नहीं कही जा सकती। कल्पना की संवेदनात्मक गति ही वास्तविक कला की गति कही जा सकती है। भावना को आरोपित करने के लिए जितनी विविधता से काम लिया जाय उतनी ही सफलता कलाकार को मिलेगी। उपन्यास में अनेक कथाओं से सम्बद्ध अनेक चरित्र आते हैं अपनी-अपनी विशेषता लिए हुए। ये कर्म करते हैं, दूसरों पर इनके कर्मों की प्रतिक्रियाएँ होती हैं और इस प्रकार भावनात्मक संवेदन की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। इस भावनात्मक संवेदना की एक निश्चित धारा होती है—हर जगह से घूमती, फिरती, भटकती और राह पाती हुई यह संवेदना अन्त में एक जगह केन्द्रित हो जाती है और इतना अधिक तपने तथा परिपक्व होने के बाद यह भावनात्मक संवेदना पाठक के मन में गहराई के साथ बैठ जाती है।

घटना-क्रम की गति भावनात्मक-संवेदना की गति नहीं है, वह केवल कौतूहल और उत्सुकता की गति है जो क्षणिक है। जब तक घटना-क्रम-प्रधान कहानी हाथ में रहती है तब तक पाठक की रुचि उसमें रहती है, कहानी समाप्त होने के बाद कौतूहल की तृप्ति हो जाती है और इस तृप्ति के बाद मनुष्य उस घटना-क्रम के प्रति उदासीन हो जाता है। अच्छे-से अच्छे मनोरंजक जासूसी, वैज्ञानिक अथवा अन्य घटना-प्रधान कहानियों को जो श्रेष्ठ साहित्य में नहीं सम्मिलित किया जाता, उसका कारण यह है कि उनमें भावनात्मक संवेदना का अभाव रहता है।

लम्बी कहानी में कहानी एक होती है और चरित्र भी कम होते हैं। ऐसी हालत में लम्बी कहानी केवल अपनी कहानी के बल पर भावनात्मक संवेदना के मामले में उपन्यास की अपेक्षा अधिक कमज़ोर होती है। कहानी की भावनात्मक संवेदना को वहाँ कवित्व का या मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। दुनिया में जो अन्तर्मुखी साहित्य आज कल प्रचुरता के साथ लिखा जा रहा है, उन सब में लेखक के अन्दर का कवित्व तथा उसका निजी मनोविज्ञान ही होता है। वस्तुगत न होने के कारण अन्तमुखी कहानी साधारण पाठक के लिए दुरूह होती है, लेकिन इस दुरूहता के दोष को लेखक का कवित्व तथा उसका निजी मनोविज्ञान काफी अंश तक ढक लेता है। इसी कवित्व और मनोविज्ञान के कारण कुछ अन्तर्मुखी कहानियाँ काफी प्रभावशाली बन गयी हैं।

और इसलिए मेरा यह निश्चित मत है कि गद्य-साहित्य में भावनात्मक संवेदना की दृष्टि से उपन्यास सब से अधिक शक्तिशाली माध्यम है। यह ठीक है कि उपन्यास में रस लेने के लिए पाठक में थोड़ी-सी बौद्धिकता होनी चाहिये, लेकिन बौद्धिक प्राणी होने के नाते मानव, बुद्धि को तो हमेशा प्रमुखता देता रहेगा। उपन्यास प्रमुखतः शिल्प-प्रधान है, और शिल्प स्वयम् में बौद्धिक चेतना की प्रक्रिया है। मैं यह मानता हूँ कि कलाकार को शिल्प जन्म से ही उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होता है, लेकिन उस शिल्प विकास में जीवन के न जाने कितने अनुभवों की सहायता की आवश्यकता होती है और इन अनुभवों को ग्रहण करने के लिए मनुष्य में बौद्धिक चेतना का होना आवश्यक है।

पुस्तकों को पढ़कर जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अधिकांश में सैद्धांतिक अथवा अनुमान मूलक होता है, व्यावहारिक और क्रियात्मक नहीं होता। ऐसी हालत में उपन्यास के शिल्प के विकास में सिद्धान्तों की

जानकारी कुछ थोड़ी बहुत सहायता भले कर दे, कलाकार को उस शिल्प का विकास अपने अनुभवों से ही करना होता है।

यहाँ एक और भ्रम का निराकरण कर देना आवश्यक होगा। लोगों का ऐसा मत है कि कलाकार प्रायः बौद्धिक प्राणी नहीं होता। मैं इस मत को ग़लत समझता हूँ। कलाकर का क्षेत्र बुद्धि न हो कर भावना अवश्य है, लेकिन भावना को सृजन करने की तथा रूप देने की प्रक्रिया निश्चय ही बौद्धिक प्रक्रिया है। कला के पद्यमान में बुद्धि का प्रदर्शन भले ही अनिवार्य न माना जाय, वैसे कालिदास और शेक्सपियर के बुद्धि के प्रदर्शन से चकित रह जाना पड़ता है, लेकिन कला के गद्य-भाग में तो यह बुद्धि का प्रदर्शन नितान्त अनिवार्य है। भावनात्मक बौद्धिकता में जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है. उपन्यास गद्य-साहित्य का सबसे सशक्त माध्यम है—लम्बी कहानी उपन्यास के बाद आती है।

चौदहवाँ परिच्छेद

छोटी कहानी—कथा साहित्य का आदि रूप

दुनिया में जिस साहित्य की रचना सबसे अधिक हो रही है वह छोटी कहानी है। और यह भी सत्य है कि छोटी कहानी का महत्त्व प्रतिदिन कम होता जा रहा है। इसका कारण यह है कि छोटी कहानी का संवेदनात्मक प्रभाव उपन्यास या लम्बी कहानी के संवेदनात्मक प्रभाव की अपेक्षा शिथिल होता है।

इस छोटी कहानी की आधार भूमि चुटकुलों, गपों या दृष्टान्तों पर ही नहीं, जीवन की वास्तविक घटनाओं पर भी है। जीवन में नित्य प्रति घटने वाली घटनाओं में अनगिनती कहानियाँ मिल सकती हैं पर जो कठिन काम है वह है इन घटनाओं का मनोरंजक ढंग से वर्णन और इन घटनाओं में संवेदना उत्पन्न करने की क्षमता। जीवन की इन घटनाओं में उस नाटकीयता का अभाव हुआ करता है जो उन्हें भावनात्मक संवेदना के आदान-प्रदान के योग्य बना सके और इसलिए कहानी-लेखक प्रायः इन घटनाओं में नाटकीयता लाने के लिए कल्पना से काम लेता है और इस प्रकार जीवन की घटना कहानी का आधार भर बन कर रह जाती है।

जीवन की घटनाओं के वर्णन, अतिशय रोचक होते हुए भी साहित्य में जो स्थान नहीं पा सकें, उसका कारण यह है कि उनमें केवल कठोर और भावनाहीन सत्य रहा करता है, उनमें संवेदनात्मक प्रतिक्रिया नहीं होती। किसी भी घटना को देखने का मानव का अपना निजी दृष्टिकोण होता है। और होता प्रायः यह है कि जीवन की घटना को अपने दृष्टि-कोण से देखकर उसमें कल्पना द्वारा रूपान्तर कर देने की प्रवृत्ति मनुष्य में जाग उठती है। इसी प्रक्रिया से कहानी का जन्म होता है।

कहानी कहने की चीज़ है, उसका लिखित रूप साहित्य में आने के पहले धर्म-ग्रंथों में एवं समाजशास्त्र की प्रतिपादना करने वाले ग्रंथों में दृष्टान्तों के रूप में आया। दृष्टान्त में केवल कुछ इने-गिने चरित्रों द्वारा एक घटना घटित करा के उसकी प्रतिक्रिया में सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जाता था। इन घटनाओं का आधार जीवन में नित्य प्रति घटित

होने वाली घटनाओं को बनाया जाता था, लेकिन कहानी-लेखक उसमें अपनी कल्पना और अपने दृष्टिकोण को उसमें समाहृत कर देता था।

मनुष्य में सपने देखने की प्रवृत्ति होती है। उसके जीवन में जो नहीं प्राप्त है, लेकिन जो कुछ वह प्राप्त करना चाहता है, इस वास्तविकता के कठोर और कुरूप जगत् से उठकर वह उन्हें प्राप्त करने के लिए कल्पना के जगत का निर्माण करता है और कल्पना में ही वह उस सबको पाने का प्रयत्न भी करता है। इस मनोवैज्ञानिक आधार पर अनगिनती कहानियों का सृजन हुआ जो लोक-कथाओं के नाम पर प्रचलित हुईं। इन कहानियों में आदिकालीन मानव की अविकसित कल्पना की रंगीनी थी, उसके अन्तरवाला कवित्व था। पर साहित्य में वह कहानियाँ स्वीकृत नहीं हो पायीं क्योंकि उनमें बौद्धिक रूप से पकड़ में आने वाली संवेदना का अभाव था।

मानव के बौद्धिक विकास के साथ कहानी में भी बौद्धिक संवेदना को ग्रहण करने की क्षमता बढ़ती गयी। अतिशयोक्ति और अतिरंजना बौद्धिक संवेदना के क्षेत्र में बहुत बड़ी बाधा के रूप में आते हैं और इसलिए कहानी से अतिशयोक्ति और अतिरंजना की कमजोरियाँ दूर होती गयीं। बिल्कुल स्वाभाविक लगने वाली घटनाओं में जब भावनात्मक संवेदना आई तब कहानी स्वत: साहित्य का भाग बन गयी।

कहानी का एक रूप और है प्रतीकात्मक। जानवर एक दूसरे से बात करते हैं, खँडहर अपनी कहानी कहते हैं—यह सब बड़ा अस्वाभाविक और हास्यास्पद है, लेकिन प्रतीकात्मक कहानियों में यह सब होता है, और इन प्रतीकात्मक कहानियों के पाठक में इस अस्वाभाविकता से कोई वितृष्णा नहीं होती, वह बड़े चाव से इन कहानियों को पढ़कर उनसे संवेदना को ग्रहण करता है।

कहानी का क्षेत्र इन्हीं कारणों से, बहुत अधिक व्यापक है। नितान्त अस्वाभाविक दिखने वाली घटनाएँ भी अपनी प्रतीकात्मकता के कारण कहानी में सम्मिलित की जा सकती हैं जब कि लम्बी कहानी अथवा उपन्यास में उनका आ सकना असम्भव है। आरम्भ में प्रतीकात्मक कहानियों को साहित्य में ऊँचा स्थान मिलता था। बहुत थोड़े में बड़ी बात कह सकने की क्षमता रखने के कारण हमारे आचार्यों ने सबसे पहले प्रतीकात्मक कहानियों को ही साहित्य में मान्यता दी।

प्रतीकात्मक कहानियों को मान्यता देने की प्रथा आज के वस्तुवादी युग में धीरे-धीरे शिथिल पड़ती जा रही है। प्रतीकात्मकता स्वयम् में बौद्धिक

तत्त्व है कला में प्रतीक केवल एक हद तक सहायक हो सकता है। और इसलिए कहानी का विकास यथार्थ के चित्रण के रूप में ही अत्यधिक हुआ। आज भी कहानी यथार्थ के चित्रण के सब से निकट है।

कहानी के तीन प्रमुख अवयव हैं घटना, चरित्र और भावनात्मक संवेदना। बिना घटना के कोई कहानी नहीं हो सकती। यह घटना चरित्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में होती है। भावनात्मक संवेदना चरित्रों के साथ होती है, उस भावनात्मक संवेदना को उत्पन्न करता है घटना में चरित्रों का कर्म।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि घटना की रोचकता कहानी का पहला सिद्धान्त है। हमारी भावनात्मक संवेदना को जागृत करती है घटना की रोचकता। घटना की रोचकता और घटना-वैचित्र्य, ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। घटना-वैचित्र्य स्वयम् में कहानी का आधार बन सकती है लेकिन घटना-वैचित्र्य में भावनात्मक संवेदना हो, यह आवश्यक नहीं। घटना की रोचकता में भावनात्मक संवेदना का होना अनिवार्य है।

कहानी प्रायः जीवन के किसी एक पहलू की भाँकी के रूप में आती है। उसका उद्देश्य जीवन को या उसके किसी पहलू को पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करना नहीं होता। और इसलिए कहानी के अन्दर वाली भावनात्मक संवेदना व्यापक नहीं होती, प्रभाव चाहे उसका कितना भी प्रखर क्यों न हो। और यहीं कहानी-कला उपन्यास या लम्बी कहानी की कला की अपेक्षा अधिक कठिन है। कहानी के माध्यम से स्थायी प्रभाव उत्पन्न करना बहुत कुशल शिल्पी का काम है।

उपन्यास और लम्बी कहानी की अपेक्षा कहानी लिखना जितना सरल है, कहानी द्वारा भावनात्मक संवेदना उत्पन्न करना उतना ही कठिन है। छोटी कहानी का स्थायित्व भी बहुत कम होना है, यह निश्चित बात है। युगों-युगों तक जीवित रहने वाले अधिकांश में उपन्यास होते हैं।

लेकिन युग की माँग छोटी कहानियो की हमेशा रही है, यह सत्य है और छोटी कहानियों की माँग हमेशा रहेगी। मनुष्य के अति व्यस्त जीवन में साधारण मनुष्य के पास इतना समय नहीं कि वह अपने समय का बड़ा भाग पढ़ने में बिताए, इधर-उधर से जो समय बच गया उसी को वह पढ़ने में बिता सकते हैं। हमारा बहुत-सा समय प्रतीक्षा में बीतता है—किसी के यहाँ गए तो दस-बीस मिनट ड्राइंग रूम में प्रतीक्षा करनी पड़ी, डाक्टर के यहाँ गए वहाँ प्रतीक्षा करनी पड़ी। और ऐसे लोगों के यहाँ समय बिताने के लिए कहानियों के रूप में पाठ्य-सामग्री आवश्यक

होती है जिससे मनोरंजन के साथ समय काटा जा सके। पर ऐसे अवसरों पर हमारे पास इतना समय तो नहीं रहता कि हम किसी लम्बी कहानी की पुस्तक को पढ़ें। कथा को एक बार उठा लेने पर उस कथा का अन्त जान लेना हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जो पाठ्य-सामग्री हमें दूसरों के यहाँ प्राप्त होती है वह उस दूसरे व्यक्ति की होती है, हमें वह पाठ्य-सामग्री फिर पाप्त होगी यह अनिश्चित है।

ऐसी हालत में दस-पन्द्रह मिनट की छोटी कहानी समय काटने के लिए अच्छी होती है क्योंकि प्रतीक्षा का समय प्रायः इतना ही हुआ करता है। यदि अधिक प्रतीक्षा करनी पड़ी तो एक से अधिक कहानियाँ पढ़ी जा सकती हैं। और इसलिए प्रायः इन लोगों के यहाँ जो पाठ्य-सामग्री समय काटने के लिए मिलती है उसमें छोटी-कहानियों का होना भी अनिवार्य है।

दुनिया में छोटी कहानियों की पत्रिकाओं की जो इतनी अधिक खपत है, उसका यह बहुत बड़ा कारण है। छोटी कहानी का उद्देश्य स्थायी प्रभाव के स्थान पर तात्कालिक प्रभाव होता है। इन तात्कालिक प्रभाव की चीज़ों में यदा-कदा स्थायी प्रभाव की चीजें भी मिल जाती हैं और इसलिए छोटी कहानी अमर साहित्य की भी निधि हो सकती है।

उपन्यास अथवा लम्बी कहानी की अपेक्षा छोटी कहानी का क्षेत्र अधिक व्यावसायिक है। एक या दो पृष्ठ से लेकर तीस चालीस पृष्ठ तक की छोटी कहानी हो सकती है, और इस कहानी का क्षेत्र प्रमुखतः मनोरंजन होता है। यह आवश्यक नहीं कि संवेदनात्मक अनुभूति हमें छोटी कहानी से प्राप्त हो ही नहीं सकती, यही संवेदनात्मक अनुभूति तो कहानी को महान् बनाती है तथा अमरता प्रदान करती है। लेकिन इस प्रकार की इतनी अधिक छोटी कहानियाँ लिखी कैसे जा सकती हैं। अन्य प्रकार के रोचक तथा जानकारी प्रदान करने वाले निबन्धों की कोटि में ही छोटी कहानी को रखा जा सकता है। इस पाठ्य-सामग्री का उत्पादन "एक पंथ दो काज" वाले सिद्धान्त के अनुसार होता है। समय का सदुपयोग हो और साथ-साथ मनोरंजन हो।

व्यावसायिक दृष्टि से छोटी कहानी में एक दोष भी है। छोटी कहानियाँ अधिकांश में पत्र-पत्रिकाओं में बिकती हैं जिससे लेखक को केवल एक बार ही पारिश्रमिक प्राप्त होता है। अधिकांश छोटी कहानियाँ इन पत्र-पत्रिकाओं से निकल कर पुस्तक-रूप में आ ही नहीं पातीं। कथा साहित्य में कहानी-संग्रहों की बिक्री बहुत कम होती है, हरेक

प्रकाशक इस बात को स्वीकार करेगा। कथा-संग्रहों में भी कई कहानीकारों की कहानियों का सामूहिक संग्रह तो थोड़ा-बहुत बिक भी जाता है पर एक कथाकार की कहानियों का संग्रह बड़ी मुश्किल से बिक पाता है। मान लें कि हमने एक कहानी संग्रह खरीदा जिसमें विभिन्न कहानीकारों की कहानियाँ संग्रहीत हैं। हो सकता है कि हमने उनमें अधिकांश कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ ली हों। ऐसी हालत में वह पुस्तक हमारे लिए निरर्थक होगी। और जहाँ तक एक कहानीकार की कथाओं के संग्रह का प्रश्न है होता प्राय: यह है कि उसकी दो-चार कहानियाँ तो हम भले ही बड़े चाव से पढ़ जाँय बाद में हमें ऐसा लगता है कि अन्य कहानियों में लेखक अपनी ही पुनरावृति कर रहा है और जहाँ यह भास हुआ वहीं वह कहानियाँ हमें अरोचक लगने लगती हैं।

पुनरावृत्ति (Monotony) का दोष आज के बौद्धिक समाज में बड़ी आसानी से पकड़ में आ जाने लगा है। जिस प्रकार कविता के क्षेत्र में गीतों में पुनरावृत्ति का दोष सहज ही दिख जाता है उसी प्रकार कथा-साहित्य में छोटी कहानियों में पुनरावृत्ति का दोष बड़ी मुश्किल से सम्हाला जा सकता है। वैसे उपन्यासों और लम्बी कहानियों में भी पुनरावृत्ति का दोष आ जाता है, पर वहाँ वह इतना अधिक स्पष्ट नहीं होता। हाँ, यह भी सत्य है कि जो बहुत अधिक बौद्धिक पाठक है, वह एक कलाकार की दो-तीन कृतियों से अधिक रुचि के साथ नहीं पढ़ सकेगा क्योंकि आगे चल कर उसे एक ही लेखक के व्यक्तित्व के बार-बार दर्शन होने लगते हैं। वस्तुत: कला कलाकार के व्यक्तित्व का प्रक्षेप तो है ही।

कुशल शिल्पी हमेशा अपनी शैली, अपने वस्तुविषय तथा अपनी भाषा में परिवर्तन करके इस पुनरावृत्ति के दोष से बचा रह सकता है। लेकिन इस सब की सीमा होती है। और कहानी में तो इस दोष से अपने को बचाए रखना नितान्त कठिन हो जाता है। जहाँ तक आजीविका का प्रश्न है, कहानी कलाकार को आजीविका में सहायता तो कर सकती है, लेकिन वह आजीविका का आधार नहीं बन सकती। आज के युग में कहानी-साहित्य और पत्रकारिता के बीच में गिनी जाने लगी है आजीविका के दृष्टिकोण से। कहानियों में घटना प्रधान तथा हास्य रस की कहानियाँ पत्रकारिता के दृष्टिकोण से अधिक सफल होती हैं।

घटनात्मक कहानियाँ शुद्ध कौतूहल वाली होती हैं और तत्काल मन को उलझा देने में वह बड़ी सहायक होती हैं। बिना किसी भावनात्मक संवेदना के घटना-प्रधान कहानियों की नित्य के जीवन में बहुत

बड़ी उपयोगिता है और इन घटना-प्रधान कहानियों में पुनरावृत्ति (Monotony) का खतरा सबसे कम रहता है। वैसे दूसरों में कुतूहल को जागृत कर देना स्वयम् में भावनात्मक प्रक्रिया है और एक कुशल शिल्पी इन घटना-प्रधान कहानियों में ऐसी भावना उत्पन्न कर सकता है जो पाठक के दिमाग में काफ़ी समय तक रहे। पर घटना-प्रधान कहानी लिखने के लिए कथासूत्र को बाँधने की जिस क्षमता की आवश्यकता होती है वह बहुत कम साहित्यकारों को प्राप्त है।

रसों में हास्यरस की भावना होते हुए भी हमारे कलाकारों ने हास्य-रस की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया और सम्भवतः इसका कारण यह था कि हमारा साहित्य गम्भीर साधकों और मनीषियों के हाथों विकसित हुआ है। शुद्ध निर्दोष हास्य का विकास हमारे देश में चुटकुलों के रूप में हुआ है, साहित्य में इस प्रकार के हास्य को स्थान नहीं के बराबर मिला है। मैंने लोगों को प्रायः यह कहते हुए सुना है कि भारतवासियों में विनोद-प्रियता (Sense of Humour) की कमी है। एक हद तक यह बात ठीक भी हो सकती है क्योंकि हमारे यहाँ गम्भीर विचारों की ही प्रथा रही है। जनता में जो विनोद-प्रियता रही है उसका समावेश साहित्य मे नहीं हो पाया।

छोटी कहानी हास्यरस का अच्छा और सफल माध्यम है। यह हास्य, हास्यास्पद चरित्रों के सृजन से लाया जा सकता है, यह हास्य अप्रत्याशित घटनाओं और परिस्थितियों से पैदा किया जा सकता है। इसमें दूसरी कोटि का हास्य अधिक निर्दोष और सफल होता है। तीसरी कोटि का हास्य है व्यंग का। व्यंग वाला हास्य अधिक बौद्धिक है और वर्तमान बौद्धिक युग में यह व्यंगात्मक हास्य श्रेष्ठ समझा जाता है। पर व्यंग वाले हास्य में कटुता के आ जाने का खतरा रहता है, और अधिकांश लेखक व्यंग से कटुता को नहीं दूर रख पाते। व्यंग स्वयम् में कटु होता है, और व्यंग से कटुता को इस हद तक गौण बना देना कि साधारण पाठक को उस कटुता का आभास भी न हो, बहुत थोड़े से कलाकार ही कर सकते हैं।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

रेखाचित्र—साहित्य की नवीन शाखा

कुछ समय पहले तक रेखाचित्र की गणना आमतौर पर छोटी कहानी में की जाती थी। लेकिन पाठक रेखाचित्र पढ़ते समय यह अनुभव अवश्य करता था कि वह छोटी कहानी से कुछ भिन्न है। रेखाचित्र किसी घटना पर आधारित नहीं होता, वह व्यक्ति पर आधारित होता है। घटना वाले कर्म और उसकी प्रतिक्रिया के अभाव के कारण रेखाचित्र में उस गति का अभाव-सा रहता है जो भावना को वहन करती है और इसलिए रेखाचित्र को सक्षम और समर्थ साहित्य में नहीं माना जाता था।

रेखाचित्र को साहित्य में स्थान किन क्रमों में मिला, इस पर अनुमान लगाना कठिन है। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि रेखाचित्र का प्रयोग आरम्भ में किसी व्यक्ति-विशेष की हँसी उड़ाने के लिए किया जाता था। आज भी हास्यरस के रेखाचित्र प्रचुरता के साथ मिलते हैं। कोई व्यक्ति किस तरह चलता है, किस तरह बात करता है, किस तरह सोचता है, किस तरह अन्य लोगों से पेश आता है—रेखाचित्र में प्रायः इन विषयों का समावेश रहता है। कुशल लेखक द्वारा लिखे गए यह वर्णन कभी-कभी बड़े रोचक होते हैं और इन वर्णनों में जिस चरित्र का वर्णन किया जाता है उसका कर्म तो रहता ही है। कहीं-कहीं उन कर्मों को प्रतिक्रिया की झलक भी मिल जाती है पर यह प्रतिक्रिया सामूहिक होती है।

रेखाचित्र कलात्मक गति के क्षेत्र में प्रायः एकांगी होता है। उसके कर्म तो होता है, लेकिन उस कर्म की प्रतिक्रिया नहीं होती। हमारा समस्त जीवन ही वस्तुगत है, इस वस्तुगत प्रदर्शन से तो भावनात्मक उपलब्धि होती है। रेखाचित्र व्याख्या में चरित्र का प्रदर्शन केवल आत्मगत होता है। उस चरित्र का किसी व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित कोई कर्म नहीं होता, उसके कर्म की परिपाटी की ओर संकेत भर होता है। साथ ही उसके कर्म की किसी व्यक्ति-विशेष पर प्रतिक्रिया का भी कोई प्रश्न नहीं उठता, उन कर्मों की प्रतिक्रिया क्या हो सकती है, इसका संकेत भर मिलता है। रेखाचित्र चरित्र-चित्रण का दूसरा रूप भर है।

रेखाचित्र अंग्रेजी के स्केच (Sketch) का अनुवाद है और हमने

साहित्य के इस नवीन रूप की मान्यता पाश्चात्य मान्यताओं से ग्रहण की है। स्केच शब्द में ही कर्महीनता का संकेत है, वह किसी भी व्यक्ति का शब्दों द्वारा चित्र भर होता है। इस व्यक्ति के चित्र की प्रतिक्रिया उसके कर्म की प्रतिक्रिया के रूप में किसी अन्य व्यक्ति पर पड़ने के स्थान पर सीधी पाठक पर होती है। रेखाचित्र के स्थान पर चरित्र-चित्रण शब्द अधिक उपयुक्त होता, लेकिन चरित्र-चित्रण केवल प्रक्रिया भर है।

बड़े-बड़े उपन्यासों में विशिष्ट चरित्रों के सविस्तार चरित्र-विश्लेषण की परम्परा-सी रही है जिससे उपन्यास की घटनाओं के सन्दर्भ में उस चरित्र की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के रूप को हम अच्छी तरह समझ सकें। इन विश्लेषणात्मक वर्णनों को अधिक से अधिक मनोरंजक बनाना उपन्यासकार के लिए आवश्यक होता था जिससे पाठक बिना उकताए हुए उन वर्णनों को पढ़े और उनमें रस ले। ऐसा हरेक वर्णन एक स्वतंत्र रेखाचित्र माना जा सकता है। ऐसी हालत में रेखाचित्र की स्वयम् स्वतंत्र सत्ता कि कैसे और किन कारणों से स्थापित हुई, यह प्रश्न उठ खड़ा होता है।

जैसा कि मैं इस परिच्छेद के आरम्भ में ही कह चुका हूँ, रेखाचित्र की स्वतंत्र सत्ता मनुष्य की परिहासात्मक वृति के कारण बनी। मेरा किसी व्यक्ति से परिचय है, और मैं उसे नहीं पसन्द करता। या किसी आदमी को देखते ही मुझे हँसी आ जाती है, इतना भोंडा और भद्दा दिखता है वह मुझे। अब अगर मुझ में कलात्मक वर्णन करने की क्षमता है तो मैं उस व्यक्ति का चित्रण कर के उसका मज़ाक उड़ाता हूँ कि वह उस वर्णन को पढ़ने या सुनने वाले को उतना ही हास्यास्पद दिखे। मेरे इस परिहास में व्यंग भी हो सकता है। अपने उस वर्णन से मैं भावना दूसरों तक पहुँचा देता हूँ, इसलिए इसमें मुझे कलात्मक सफलता मिलती है। इस तरह की प्रवृति मानव की नितान्त स्वाभाविक प्रवृत्ति है और इस कला का प्रदर्शन सबसे पहिले अभिनय में ही हुआ है। छोटे-छोटे बालक तक जिसको वह नहीं पसन्द करते उसका हास्यात्मक अभिनय करके उसका मजाक उड़ाते हैं। भाँड़ों में तो इस प्रकार का अभिनय पूर्व विकास पा चुका है।

इस तरह के कुछ परिहासात्मक रेखाचित्र अपनी ही शक्ति से साहित्य में प्रवृष्ट हो गए और रेखाचित्रों ने साहित्य में अपना स्थान बना लिया। फिर जब रेखाचित्रों ने अपनी स्थापना कर ली तब उन्होंने स्वयम् विस्तार का मार्ग-ग्रहण कर लिया। परिहास मनुष्य के

अस्तित्व का एक छोटा-सा भाग भर ही है, मनुष्य का अस्तित्व तो संघर्ष और कर्म का है। स्वभावत: रेखाचित्र ने अपनी स्थापना के बाद मानव की अन्य भावनात्मक संवेदनाओं को ग्रहण किया। हास्य रस से हट कर करुणा, वीर आदि विभिन्न रसों की प्रतिपादना भी रेखाचित्रों द्वारा करने की प्रथा चल पड़ी।

रेखाचित्रों में गति का क्षेत्र और गतिक्रम बहुत सीमित होता है और इसलिए रेखाचित्र का भावनात्मक प्रभाव भी साधारणतौर से उतना सबल नहीं हो पाता जितना कहानी का होता है। लेकिन एक सबल और सूक्ष्म कलाकार ऐसा रेखाचित्र प्रस्तुत कर सकता है जो पाठक के मन पर अमिट छाप छोड़ जाय। रेखाचित्र में शैली और अभिव्यंजना को प्रधानता मिलती है जब कि कहानी में कथा और घटना-क्रम को।

रेखाचित्र को हम उस रेखाचित्र के लेखक द्वारा की गयी वह परिभाषा कह सकते हैं जो उसने उस व्यक्ति की की है जिस पर उसने वह रेखाचित्र लिखा है। शाश्वत और व्यापक सत्य से रेखाचित्र का क्षेत्र कुछ अलग-सा है, वह एक व्यक्ति पर केन्द्रित हुआ करता है और इसलिए रेखाचित्र का सम-सामयिक महत्त्व काफी अधिक है। रेखाचित्र कहानी और निबन्ध के बीच की कड़ी के रूप में आता है।

पर इतना सत्य है कि उच्च साहित्य में बहुत कम रेखाचित्र सम्मिलित किये जा सकते हैं क्योंकि जैसा मैं पहले ही संकेत कर चुका हूँ, रेखाचित्र सर्वांगी नहीं है और इसलिए गहरी भावनात्मक संवेदना का माध्यम वह बड़ी मुश्किल से बन पाता है। पुस्तक के रूप में रेखाचित्रों की माँग न कभी रही है और न भविष्य में रहने की कोई सम्भावना है। पत्र-पत्रिकाओं में रेखाचित्र प्रकाशित होते हैं और विभिन्न कारणों से पढ़े भी जाते हैं।

उठते हुए कहानीकारों में रेखाचित्रों को कहानी समझ कर लिखने की प्रवृत्ति जब तब दिखलाई दे जाती है, और उनको इस ओर सचेत रहना होगा। यदि कोई व्यक्ति रेखाचित्र लिखता है तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती, लेकिन वह रेखाचित्र समझ कर लिखे जाँए। अपनी कृतियों को श्रेष्ठ समझने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसके और रेखाचित्र को कहानी समझने की गलत धारणा के योग से इन नवीन लेखकों को अपने रेखाचित्रों की उपेक्षा से कुछ कुण्ठा हो सकती है। उस कुण्ठा से तभी बचा जा सकता है जब हम रेखाचित्रों की सीमाओं के प्रति सचेत हो जाँए। एक कुशल शिल्पी कथा-वस्तु के अभाव में पत्र-

पत्रिकाओं की माँग पूरी करने के लिए कभी-कभी अच्छे रेखाचित्र लिख लेता है, लेकिन वह उस शिल्पी की कमजोर कृति ही मानी जाएगी।

रेखाचित्रों की व्यावसायिक दृष्टि से उपयोगिता अवश्य हैं क्योंकि रेखाचित्रों द्वारा किसी विशेष-समाज की व्यवस्थाओं और धारणाओं से लदे हुए व्यक्तियों का चित्रण किया जा सकता है। यही नहीं, मानव की कुण्ठाओं, उसकी विवशताओं और उसकी कमजोरियों का चित्रण करके उनके प्रति संवेदना उत्पन्न की जा सकती है। रेखाचित्रों में यथेष्ट मनोरंजक सामग्री सम्मिलित की जा सकती है। रेखाचित्रों में मनोविज्ञान की सामग्री प्रमुख हो सकती है क्योंकि किसी भी व्यक्तित्व के पीछे उसका मनोविज्ञान ही तो रहता है। मेरा तो ऐसा मत है कि अच्छे रेखाचित्र लिखने वाले में मनोवैज्ञानिक पकड़ अच्छी होनी चाहिए, इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से ही रेखाचित्रों में भावनात्मक संवेदना की सृष्टि की जा सकती है।

कुछ दिन पहले रेखाचित्रों की एक बाढ़-सी आ गयी थी क्योंकि रेखाचित्र नया-नया विकसित हुआ था और अपेक्षाकृत आसान भी था। नवीन होने के कारण पाठकों ने, और विशेष रूप से समालोचकों ने रेखाचित्रों की प्रशंसा भी की थी। लेकिन धीरे-धीरे रेखाचित्रों की सीमा, उसकी अपूर्णता लोगों की नज़र में आने लगी, और रेखाचित्र लिखने की प्रवृत्ति कम होती गयी।

रेखाचित्र साहित्य का वह भाग है जो किसी भी साहित्यकार द्वारा किसी भी समय बिना प्रयास के लिखा जा सकता है और इसलिए साहित्यजीवी के लिए व्यावसायिक दृष्टि से रेखाचित्र बहुत बड़ा सहारा है।

———

सोलहवाँ परिच्छेद

शब्दचित्र—पत्रकारिता का विकसित रूप

साहित्य का सबसे नवीन रूप है शब्दचित्र जिसे अँग्रेजी में रिपोर्ताज (Reportage) कहते हैं और यह नया रूप विकसित हुआ है पश्चिम में पत्रकारिता के विकास के साथ। और आज के युग में रिपोर्ताज हमारे साहित्य का प्रमुख भाग बन गया है।

पत्रकारिता का श्रीगणेश होता है समाचार-जगत् से। कहाँ क्या हो रहा है, इसे जानने की अभिलाषा हरेक व्यक्ति में रहती है और विकास-युक्त मानव की इन समाचारों के प्रति रुचि धीरे-धीरे बढ़ती ही जाती है। समाचारों को जानने की उत्सुकता मनुष्य के जीवन का एक अविलग-भाग है क्योंकि व्यक्ति का जीवन सामाजिक जीवन है और यह सामाजिक जीवन समष्टि के जीवन का ही एक भाग है। दुनिया के किसी भाग में युद्ध हो, उसका थोड़ा बहुत असर हम पर पड़ेगा ही। आज के जीवन मे कहाँ क्या राजनीतिक उथल-पुथल हो रही है, कहाँ कौन-सा सांस्कृतिक अभियान उठ रहा है, कहाँ कौन-सी महामारी फैल रही है; इस सब की जानकारी हम प्राप्त करना चाहते हैं, केवल कौतूहलवश हो नहीं, वरन् इसलिए भी कि उन सब का प्रभाव हमारे जीवन पर, हमारी सामाजिक व्यवस्था पर थोड़ा-बहुत पड़ता है। एक स्थान पर निकलने वाले पत्र के संवाददाता दुनिया के हरेक कोने में फैले हुए हैं, युद्धों, उत्सवों और क्रान्तियों का सही-सही वर्णन प्राप्त करने के लिए विशिष्ट पत्रों के संवाददाता उस स्थान पर भेजे जाते हैं जहाँ यह सब चीजें होती हैं। और यह संवाददाता पत्रों को केवल समाचार ही नहीं भेजते, वह लम्बे-लम्बे रोचक वर्णन भी भेजते हैं। लेकिन यह लम्बे वर्णन समाचारों के भाग तो होते ही हैं।

इन वर्णनों में कभी-कभी बड़ा कवित्व रहता है और इनमें भावनात्मक संवेदना भी रहती है। इसका कारण यह है कि शुद्ध साहित्य आरम्भ में आजीविका का साधन नहीं बन पाता इसलिए साहित्यकार को आजीविका के लिए साहित्य के समकक्ष दूसरे कामों को अपनाना पड़ता है। पत्रकारिता साहित्य के बहुत निकट है। प्राय: साहित्यकार या तो आरम्भ में पत्रकार बनते हैं या अध्यापक बनते हैं। इसमें

पत्रकारिता साहित्य के अधिक निकट है क्योंकि पत्रकार की हैसियत से मनुष्य को लिखने का काम करना पड़ता है, जबकि अध्यापन-कार्य में लेखन का क्रम नहीं है, केवल पठन का क्रम है। मेरा तो कुछ ऐसा अनुभव रहा है कि सृजनात्मक साहित्यकार बनने में पत्रकारिता अध्यापन की अपेक्षा अधिक सहायक होती है। अध्यापक प्राय: अच्छा आलोचक तो बन जाता है, अच्छा कथाकार या कलाकार बनना उसके लिए कठिन होता है।

पत्रकार अगर अच्छा कहानीकार है तो वह काफी अधिक सफल होता है क्योंकि कहानी के रूप में समाचारों को लिखने से उन समाचारों की रोचकता काफी बढ़ जाया करती है। यही नहीं, वह उस क्षेत्र में अपने उन समाचारों से भावनात्मक उथल-पुथल भी कर सकता है अपने उन समाचारों के वर्णन से और इस प्रकार के वर्णन वस्तुत: साहित्य के भाग ही बन जाते हैं।

बड़े-बड़े मेलों और समारोहों के वर्णनों से उन मेलों और समारोहों के प्रति एक प्रकार की भावनात्मकता जगाने में भी सहायता मिलती है। यह वर्णन कभी-कभी सामयिक और क्षेत्रीय महत्त्व से ऊपर उठकर सार्वभौमिक और दीर्घकालीन महत्त्व भी प्राप्त कर लेते हैं। और स्वाभाविक रूप से इन वर्णनों के लेखकों में इन वर्णनों को उन पत्रों से अलग जिनमें यह वर्णन प्रकाशित हुए हैं, पुस्तक रूप में इन वर्णनों के संग्रह को प्रकाशित कराने की प्रवृत्ति जाग पड़ती है। इस प्रकार रिपोर्ताज का आविर्भाव साहित्य में हुआ।

एक दूसरे से सम्बद्ध सार्वभौमिक मानव-समाज में इस प्रकार के साहित्य की महत्ता दिनों-दिन बढ़ती जाती है क्योंकि इस साहित्य से ज्ञान की वृद्धि तो होती ही है, एक प्रकार की भावनात्मक संवेदना भी लोगों को प्राप्त होती है। इस साहित्य के अन्दर वाली भावनात्मक संवेदना बहुत अधिक प्रखर नहीं होती, मैं यह स्वीकार करता हूँ; वह शायद शब्दचित्र (Sketch) के अन्दर वाली भावनात्मक संवेदना से भी कुछ क्षीण होती है। लेकिन शायद आज के संघर्षों से त्रस्त अन्तर्मुखी मानव को दूसरे लोगों की भावना के प्रति संवेदना में रुचि नहीं है, वह केवल अपने में ही सीमित और केन्द्रित हो गया है।

पत्रकार कला का एक नियम है, पत्रकार को जहाँ तक सम्भव हो सके, व्यक्तिगत भावना से ऊपर रहना चाहिये क्योंकि जहाँ व्यक्तिगत भावना पत्रकारिता में आई वहीं पत्रकार तटस्थता से अलग हट जाता है। वैयक्तिक अथवा सामाजिक भावना तटस्थ बड़ी मुश्किल से रह पाती है,

इतना मानते हुए भी भावना से लदे हुए वर्णन पत्रकारिता में सफल नहीं होते, यह भी सत्य है। और इसी लिए पत्रकारों के संवादों में उतनी भावनात्मक संवेदना नहीं हो सकती जितनी साहित्य में अपेक्षित है। सम्भवतः इसी कारण रिपोर्ताज जब साहित्य में सम्मिलित हुआ तब उसके साथ कुछ नवीन प्रयोग किये गए। इन प्रयोगों में कुछ बड़े सफल भी साबित हुए हैं।

रिपोर्ताज का क्षेत्र वातावरण होता है, व्यक्ति के कर्मों तथा उन कर्मों की प्रतिक्रियाओं को रिपोर्ताज का क्षेत्र नहीं बनाया जाता है। इस प्रकार रिपोर्ताज में किसी वातावरण को प्रस्तुत किया जाता है। उस वातावरण में सामूहिक घटनाओं तथा सामूहिक गतिविधि का चित्रण उपस्थित करके उनसे पाठक में भावनात्मक प्रतिक्रिया पैदा करने का इन रिपोर्ताजों में क्रम होता है। जो चरित्र इन रिपोर्ताजों में आते हैं वे कर्त्ता न होकर इस सामूहिक वातावरण के अंग भर होते हैं। इस प्रकार शब्दों में किसी वातावरण का चित्र उपस्थित कर दिया जाता है और प्रत्येक पाठक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भावनात्मक अनुभूति प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है। हिन्दी में रिपोर्ताज को शब्द चित्र की संज्ञा दी गयी है क्योंकि वह किसी वातावरण का एक चित्र ही होता है जो शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

चित्रकला में एक प्रकार की भावनात्मकता तो रहती है अन्यथा वह कला न कहलाती। चित्रकार जो चित्र प्रस्तुत करता है उसमें वातावरण से सम्बद्ध उस कलाकार की भावना रहती है जो दर्शक में एक प्रकार की संवेदना की सृष्टि करती है। ठीक इसी प्रकार जो चित्र लेखक शब्दों द्वारा प्रस्तुत करता है उसमें लेखक की भावना रहती है, और इन शब्दचित्रों द्वारा वह अपनी भावना पाठक तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है।

जहाँ तक चित्रकला का प्रश्न है, रंगों और आकृतियों में उनकी एक निजी लय होती है जो भावना को वहन करती है। पर शब्दचित्र में तो न रंगों का सहारा होता है और न आकृति का सहारा होता है। उसमें तो शब्दों द्वारा ही कल्पना को उभारा जाता है। इस कल्पना की गति का आधार होता है चरित्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया। वातावरण में चरित्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया बड़ी क्षीण होती है इसलिए शब्दचित्र का मन पर उतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ता जितना कला में अपेक्षित है।

शब्दचित्र को कथा बनाने में लेखक स्वयम् को अपने किसी एक

प्रमुख चरित्र में केन्द्रित कर देता है, और इस प्रमुख चरित्र के सन्दर्भ में ही समस्त वातावरण का चित्रण किया जाता है। उस चरित्र में गति होती है, उसकी गति के अनुसार वातावरण बदलते रहते हैं। उन वातावरणों को सजीव बनाने वाले पात्र बदलते रहते हैं, लेकिन भावना का मूल स्रोत वह प्रमुख चरित्र सामने रहता है। कभी-कभी तो वातावरण में वह प्रमुख चरित्र खो-सा जाया करता है, वह केवल प्रतिक्रिया को ही ग्रहण कर पाता है। इस स्थल पर शब्दचित्र की रोचकता तो बढ़ जाती है, उसका भावना-पक्ष निर्बल पड़ जाया करता है। और इसलिए रिपोर्ताज ने उस अन्तर्मुखी साहित्य को जन्म दिया जो आज दुनिया में इतनी प्रचलित है। इस अन्तर्मुखी कहानी में प्रमुख चरित्र बराबर सामने रहता है, वातावरण उसकी सुविधा के अनुसार बदलते रहते हैं और हरेक वातावरण पर वह छाया रहता है।

व्यक्तिगत रूप से मैं हरेक अन्तर्मुखी कथा को शब्दचित्र अथवा रिपोर्ताज की कोटि में रखता हूँ जहाँ तक भावनात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्न है। दोनों में ही प्रमुख चरित्र ही प्रतिक्रिया के रूप में भावना को ग्रहण करता है और आरोपित करता है, दोनों में ही लेखक परिस्थितियों के साथ बहता है। दोनों में ही कर्म की गति अति शिथिल होती है।

पर रिपोर्ताज वर्णनात्मक होता है, अन्तर्मुखी कहानी मनोवैज्ञानिक होती है—यह इन दोनों में मौलिक अन्तर है।

रिपोर्ताज रेखाचित्र की भाँति अनिवार्यतः छोटा नहीं होता उसका आकार काफी बड़ा हो सकता है। आजकल तो तीन-चार सौ पृष्ठ के रिपोर्ताजों को उपन्यासों के नाम से लिखने की प्रथा चल पड़ी है और हिन्दी में इन्हें आंचलिक उपन्यास कहा जाने लगा है। इन उपन्यासों का मुख्य ध्येय होता है आंचलिक वातावरण को प्रस्तुत करना। इन उपन्यासों का जो स्वागत हुआ है वह उनके अन्दर वाली भावनात्मक संवेदना के कारण इतना नहीं जितना जन-जीवन के उन पहलुओं के प्रदर्शन के कारण जो अभी तक उपेक्षित पड़े हुए थे। वैसे वह आंचलिक जीवन और समाज साधारण उपन्यासों में आधार-भूमि की भाँति अकसर चित्रित होता रहा है और होता रहता है, पर उन उपन्यासों में उद्देश्य होता है मानव की भावनात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण न कि उस आंचलिक जीवन और समाज का प्रदर्शन।

आंचलिक कथाओं में भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र और जीवन के

विभिन्न पहलुओं का कुछ विचित्र-सा सम्मिश्रण होता है और उनकी सफलता भावनात्मक संवेदन पर न निर्भर हो कर इन विभिन्न पहलुओं के सफल प्रदर्शन पर निर्भर रहती है। मैं यह मानता हूँ कि इन सबों का प्रदर्शन और इनको ग्रहण करने का क्रम स्वयम् में कहीं न कहीं भावनात्मक प्रक्रिया है, पर यह भावनात्मक प्रक्रिया साहित्य में इष्ट भावनात्मक संवेदना से भिन्न है।

पाश्चात्य देशों में शुद्ध रूप से शब्दचित्रों को महत्ता देना अब कम हो रहा है, शब्दचित्रों को आधार बनाकर साहित्य के नए-नए रूपों को ढूँढा जा रहा है। वही हाल हमारे देश में भी है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि आज का युग ही रिपोर्ताजों का युग है। लेकिन यह रिपोर्ताजों का युग एक फैशन भर है। नए प्रयोग हमेशा होते रहे हैं और होते रहेंगे, किसी सक्षम और स्रष्टा कलाकार का नया प्रयोग सफल भी हो जाता है। लेकिन यह सफलता उस नए प्रयोग को सत्य के रूप में तो स्थापित नहीं कर पाती।

जहाँ तक भावनात्मक संवेदना का प्रश्न है, रिपोर्ताज वहाँ काफी कमजोर बैठता है। अभी तक जो कुछ रिपोर्ताज के नाम पर लिखा गया है, उसके आधार पर मैं यह कह रहा हूँ। पर अभी तो रिपोर्ताज में नए-नए प्रयोग चल ही रहे हैं, बहुत सम्भव है कि आगे चल कर इसका कोई समर्थ और सक्षम रूप विकसित हो जाय। जहाँ तक आंचलिक उपन्यासों का प्रश्न है, उनमें कुछ भावनात्मक संवेदना में काफी आगे बढ़े हुए हैं क्योंकि उनमें अगर कोई सबल कहानी बँधी हुई है तो वह भावनात्मक संवेदना उत्पन्न करेगी ही। पर दुर्भाग्यवश आंचलिकता के प्रदर्शन के फेर में एक ओर तो साहित्यकार अपने कथावस्तु के साथ पूर्ण न्याय नहीं करता, दूसरी ओर पाठक के मन का ऊपरी स्तर ही इस आंचलिकता को ग्रहण करने में सजग रहता है, अधिक गहराई के साथ वह उस कथावस्तु को देख नहीं पाता।

नवीनता और फैशन के नाम पर जो चीज़ें लिखी जाती हैं, समाज का एक वर्ग उनका बड़े जोरदार शब्दों में स्वागत करता है। लेकिन उस वर्ग की वह प्रशंसा कभी-कभी बड़ी भ्रामक होती है। साहित्यकार एक हद तक ही फैशन के पीछे दौड़ सकता है; फैशन के साँचे में अपने को ढाल लेने से तो उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। आंचलिकता जीवन के सत्यों में एक है, वह जीवन का सर्वस्व सत्य तो नहीं है जो उसे साहित्य का सत्य बना लिया जाय। आंचलिकता का नयापन जैसे-जैसे

मिटता जायगा, वैसे-वैसे यह आंचलिक साहित्य विस्मृति के गर्त में डूबता जायगा।

रिपोर्ताज की न जाने कितनी शाखाएँ हैं, उदाहरण के लिए यात्रा-वर्णन (Travelogues) पाश्चात्य देशों में यात्रा सम्बन्धी न जाने कितना साहित्य मौजूद है, पर हमारे देश में इस यात्रा साहित्य की बहुत बड़ी कमी है। इधर हाल में एक प्रथा चल पड़ी है कि जो भी व्यक्ति विदेश की यात्रा करके लौटता है, वह अपने यात्रा के संस्मरण लिखने बैठ जाता है। इसमें अधिकांश साहित्य अरोचक होता है। अगर कुशल शिल्पी अपने अनुभवों के बल पर यात्रा-साहित्य लिखे तो इसमें उसे सफलता प्राप्त हो सकती है।

रेखाचित्र की भाँति शब्दचित्र की कला भी मूलतः व्यावसायिक कला है। शब्दचित्र की कला का तो जन्म ही व्यावसायिक पत्रकारिता से हुआ है। और रिपोर्ताज रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक सक्षम है, क्योंकि इसमें लेखक के लिए सम्भावनाएँ भी बहुत अधिक होती हैं। यह ठीक है कि पुस्तक रूप में शुद्ध शब्दचित्रों की खपत संदिग्ध है, पर पत्र-पत्रिकाओं में इनकी माँग बहुत अधिक है क्योंकि अपनी विविधता के कारण पाठकों को यह काफी प्रिय होते हैं।

— —

सत्रहवाँ परिच्छेद

निबन्ध—गद्य का अति प्रचलित रूप

मेरे मत से कला का सबसे अधिक कमजोर और संदिग्ध रूप निबन्ध है, और यह भी ठीक है कि आलोचनात्मक साहित्य का आधार ही निबन्ध है। बौद्धिक आदान-प्रदान के लिखित रूप अधिकांश में निबन्ध में ही है। निबन्ध का विकास ही साहित्य में गद्य के विकास के साथ हुआ है। निबन्ध बौद्धिक विज्ञान और शास्त्र के अधिक निकट है कला की अपेक्षा। निबन्ध गद्य का अति प्रचलित रूप है, यह बात स्पष्ट और असंदिग्ध है। गद्य में स्वयम् की कोई गति नहीं होती, गद्य तो ध्वनि अथवा कल्पना की गति को वहन करता है। इसलिए शुद्ध बौद्धिक आदान-प्रदान से युक्त निबन्ध कला का भाग नहीं बन सका। निबन्ध को कला का भाग बनाने के लिए उसे ध्वनि और व्यंजना की गति प्रदान की गयी है। यह ध्वनि और व्यंजना की गति निबन्ध को देना स्वयम् में बौद्धिक प्रक्रिया है और इसलिए ऐसे निबन्ध बहुत कम दिखते हैं जिनमें ध्वनि और व्यंजना की गति मुखर होकर कृत्रिमता का स्पष्ट बोध करा के निबन्ध की कलात्मकता को नष्ट न कर दें।

साधारण बौद्धिक प्राणी के लिए निबन्ध लिखना कठिन नहीं है, भौतिक ज्ञान की प्रतिपादना के लिए नित्य ही अनगिनती निबन्ध लिखे जा रहे हैं। पर इन निबन्धों में बौद्धिक अथवा भौतिक अभिव्यक्ति है, भावनात्मक और सूक्ष्म अभिव्यक्ति नहीं होती। भावनात्मक और सूक्ष्म अभिव्यक्ति की भी हरेक क्षेत्र में आवश्यकता पड़ती है, और इसी लिए निबन्धों में कलात्मकता की उपेक्षा होती है।

निबन्ध साहित्य कला का सबसे कमजोर अंग है क्योंकि भावना को वहन करने वाली गति का निबन्धों में एक तरह से अभाव-सा रहता है। ध्वनि और व्यंजना की गति ऐसी नहीं है जो हरेक व्यक्ति के वास्ते स्पष्ट अथवा सुगम हो और इसलिए इन कलात्मक निबन्धों का भावनात्मक प्रभाव संदिग्ध-सा रहता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में ही निबन्ध की सार्थकता समझी जाती है। लेकिन जो आदमी अपनी भावना व्यक्त करना चाहता है, अगर वह जन्म से कलाकार नहीं है तो वह शब्दों द्वारा ही भावना व्यक्त करेगा, उस व्यक्तीकरण का प्रभाव दूसरों पर क्या और कैसा पड़ेगा,

इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं। और इसी लिए कलात्मक निबन्ध प्रचुरता के साथ हमेशा लिखे गए हैं और आज भी लिखे जा रहे हैं। निबन्ध में शैली को सबसे अधिक महत्ता प्राप्त है। 'क्या' कहा जाता है, कला और साहित्य का आधार इसमें नहीं है, कैसे कहा जाता है, कला की परख इसमें है। शैली की समस्त सार्थकता किसी बात को कहने के ढंग पर होती है। इस शैली की न कोई मीमांसा हो सकती है न इसका कोई विश्लेषण हो सकता है क्योंकि शैली में कलाकार का अस्तित्व और उसकी अभिव्यक्ति है।

जहाँ तक साहित्य-कला के अन्य रूपों का प्रश्न है, वहाँ लय, कथावस्तु आदि के साथ शैली अनेक गुणों के साथ एक है। पर निबन्ध में तो शैली एकमात्र गुण है। जिसे हम औसत का आदमी (Average-man) कह सकते हैं, उसके पास ऐसा कोई विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं होता जो दूसरों से पृथक स्पष्ट रूप से दिखे; और इसी प्रकार जो औसत का लेखक है उसके पास भी कोई ऐसी विशिष्ट शैली नहीं होती जो अपने बल पर साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करे। विशिष्ट शैली विशिष्ट कलाकार के पास ही होती है और इसलिए एक साधारण व्यक्ति अच्छा साहित्यिक निबन्धकार नहीं हो सकता।

निबन्ध में भावनात्मक कला की प्रवृत्ति के साथ-साथ लेखक के पास विचारात्मक बौद्धिक प्रवृत्ति की नितान्त आवश्यकता है क्योंकि निबन्ध में जो कुछ दिया जाता है वह बौद्धिक शब्दों के माध्यम से। निबन्ध में दी जाने वाली व्यंजना सुस्पष्ट और सुगम होनी चाहिये जो बौद्धिक प्रक्रिया से समझ में आ सके। एक ध्वनि ऐसी है जो भावनात्मक है, लेकिन यह ध्वनि भी तो शब्दों को ही दी जाती है जिनका क्षेत्र बौद्धिक है। अपूर्ण-रूपकों, व्याकरण के तोड़-मरोड़ से युक्त वाक्यों, बौद्धिक तारतम्य से हीन व्यंजनाओं से युक्त निबन्धों को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मेरा तो कुछ ऐसा अनुभव है कि निबन्धों में बौद्धिकता की प्रचुरता रहती है, और प्रायः वह बौद्धिकता दर्शनशास्त्र की होती है। दुनिया के जो प्रसिद्ध निबन्ध कहे जा सकते हैं उन सबों में एक अपना निजी दार्शनिक दृष्टिकोण है। दर्शनशास्त्र बौद्धिक होने के साथ भावनात्मक भी है और इसी लिए श्रेष्ठ साहित्य होने के लिए साहित्य में दर्शन का समावेश इष्ट समझा जाता है।

निबन्ध का उपयोगिता कला-पक्ष उसके मनोरंजन के पक्ष से अधिक सबल है, दुनिया में शुद्ध मनोरंजनात्मक निबन्धों की संख्या बहुत थोड़ी है। शुद्ध मनोरंजनात्मक निबन्धों में हास्य रस के निबन्ध अधिक सफल होते

हैं । हास्य रस में भी व्यंग-प्रधान निबन्धों को अधिक महत्त्व मिलता है क्योंकि व्यंग स्वयम् में जीवन का एक दार्शनिक दृष्टिकोण है । साधारण हास्य रस के निबन्धों में छोटी-छोटी कहानियों (चुटकुलों) का संग्रह उन्हें मनोरंजक बनाता है शुद्ध निबन्ध-तत्त्व अधिक सहायक नहीं हुआ करता।

अच्छे निबन्धकार का शैलीकार होना नितान्त आवश्यक है, जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, और प्रायः अच्छे कहानीकार निबन्ध-लेखक नहीं बनते होंगे क्योंकि उनके पास साहित्य का एक सक्षम माध्यम होता है । लेकिन कभी-कभी मौज में आकर अगर ये लोग निबन्ध भी लिख देते हैं और उन निबन्धों में कुछ बड़े सफल होते हैं ।

आज का ज्ञान-विज्ञान वाला बौद्धिक युग ही निबन्धों का युग है, लेकिन यह साहित्यिक निबन्धों का युग नहीं है । साहित्य के नाम पर जो भी निबन्ध लिखे जाते हैं वह आलोचनात्मक होते हैं । आलोचना स्वयम् में ही शास्त्रीय विषय है और इसलिए बौद्धिक है । मैंने साहित्य को कला के रूप में ही स्वीकार कर के उसकी मान्यताएँ दी हैं, उसके शास्त्रीय पक्ष को मैंने अपनी इन मान्यताओं में नहीं उठाया है । मैं यह स्वीकार करता हूँ कि आलोचनात्मक साहित्य पर न जाने कितने ग्रंथ लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं, और इन ग्रंथों में यदा-कदा साहित्य के आधार-मूल सिद्धान्त भी प्रतिपादिन किये गए हैं; पर ये ग्रंथ सृजनात्मक साहित्य के समझने तथा उस साहित्य का रस ग्रहण करने में सहायक भर होते हैं।

निबन्ध का क्षेत्र बड़ा व्यापक है और साहित्य के कई ऐसे अंग जो नितप्रति विकसित हो रहे हैं, निबन्धों की कोटि में रक्खे जा सकते हैं। साहित्य के इन अंगों में भावनात्मक संवेदना निश्चय-रूप से होती है। निबन्ध की आधारमूल कमजोरी को स्वीकार करते हुए भी निबन्ध की उपेक्षा नहीं की जा सकती । उदाहरण के लिए जीवन-चरित एक बड़े निबन्ध के रूप में ही साहित्य में स्वीकृत है, और जीवन-चरित में भावनात्मक संवेदना प्रचुर मात्रा में मिलती है ।

निबन्ध का एक गुण सारी दुनिया में स्वीकार किया जाता है कि उसमें कोई बात कल्पना को आधार बना कर नहीं कही जाती । निबन्ध स्पष्ट दिखने वाले सत्य को लेकर ही आगे बढ़ता है, उसमें भावनात्मक योगदान शैली का ही होता है । जीवन-चरित भी लेखक की शैली से ही उभर पाता है, ऐतिहासिकता को कायम रखते हुए उन ऐतिहासिक तत्त्वों का भावनात्मक निरूपण जीवन चरित का आधारमूल गुण हुआ करता है । निबन्ध में कल्पना की गति सबसे शिथिल होती है क्योंकि सत्य के

क्षेत्र में कल्पना का स्थान नहीं हुआ करता है। निबन्ध में जो भी गति होती है वह ध्वनि, लय आदि की होती है।

साहित्य में निबन्ध को स्थान मिलता है प्रायः साहित्य के आलोचनात्मक पक्ष में जो शास्त्रीय पक्ष है, लेकिन आलोचना में बौद्धिक तत्त्व के साथ-साथ भावनात्मक पक्ष निश्चय रूप से मौजूद रहता है। स्वयं आलोचना की ही तीन स्पष्ट शैलियाँ मानी जाती हैं—रचनात्मक आलोचना, विनाशात्मक आलोचना और निष्पक्ष आलोचना। आलोचना की प्रथम दोनों कोटियों में लेखक अथवा आलोचक की भावना स्पष्ट रूप से सामने रहती है। रचनात्मक आलोचना में आलोचक की आलोच्य विषय पर एक प्रकार की संवेदना होती है। उस विषय के दोषों को नजरन्दाज करने की उसमें प्रवृत्ति होती है और उस विषय के गुणों के प्रति वह मुखर हो उठता है। यह आलोचक का भावनात्मक दृष्टिकोण तो होता ही है। यही नहीं, सम-सामयिक आलोचना में तो आलोचक आलोच्य विषय के प्रति जागरूक न होकर उस विषय के लेखक या कलाकार के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त करने बैठ जाता है। ठीक यही बात विनाशात्मक आलोचना पर लागू होती है जहाँ आलोचक आलोच्य विषय या उसके लेखक के दोषों को ही महत्ता देता है। यह जितनी सम-सामयिक आलोचनात्मक होती है वह सब विशेषरूप से भावनात्मक होती है।

आज के वस्तुवादी और भौतिक जगत् में निबन्धों की महत्ता केवल ज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, भावना के क्षेत्र में भी बढ़ती जा रही है। किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में प्रचार केवल बौद्धिक न होना चाहिये, वह भावनात्मक भी होना चाहिये। हम चीजों को इस प्रकार रखना चाहते हैं कि दूसरे उसे बौद्धिक ही नहीं, भावनात्मक रूप से भी स्वीकार कर लें। अमेरिका में तो किसी चीज़ के जानकारी के विवरण को उस चीज़ पर साहित्य (Literature) कहते हैं। यह इसलिए कि इस विवरण से मनुष्य उस चीज़ के सम्बन्ध में बौद्धिक रूप से ही ज्ञान न प्राप्त करे बल्कि भावनात्मक रूप से उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार कर ले।

इस प्रकार के साहित्य में निबन्ध का बहुत बड़ा हाथ है। वैसे इस भावनात्मक विवरण में कई व्यवसायी फर्में कहानी, नाटक, कविता आदि का प्रश्रय लेते हैं, पर इन सबों में निबन्ध ही प्रमुख होते हैं।

निबन्ध साहित्य कला का सबसे सुगम और सर्वव्यापी रूप है, साथ ही निबन्ध सबसे कमजोर माध्यम भी है। और इसलिए इस कमजोर माध्यम को बड़े प्रयत्न से ही सफल बनाया जा सकता है।

अठारहवाँ परिच्छेद

नाटक

(१)

नाटक साहित्य का ऐसा अंग है जिसमें अन्य कलाओं का बहुत बड़ा योग-दान है और इसलिए नाटक की मान्यताएँ साहित्य की आधारमूल मान्यताओं से कुछ भिन्न हैं। हमारे प्राचीन-साहित्य में ही नहीं वरन् विश्व के प्राचीन साहित्य में नाटकों का सदा से विशिष्ट स्थान रहा है और इसके कारणों की व्याख्या से हम इस तथ्य पर आसानी से पहुँच सकते हैं कि आरम्भ में विभिन्न कलाएँ कुछ अजीब तरह से मिश्रित रही हैं। कलाओं के स्पष्ट विभाजन बहुत बाद में हुए हैं।

नाट्य शब्द प्रमुखतः अभिनय का और नृत्य का द्योतक है। यह नृत्य और अभिनय ही नाटक का आधार रहा है प्राचीन काल में। हमारे लोक-जीवन में तीन प्रवृत्तियाँ हमें स्पष्ट रूप से दिखती हैं – नृत्य, संगीत और अभिनय। इन तीनों प्रवृत्तियों में प्रमुख कौन है, यह कहना कठिन है, लेकिन जहाँ विशुद्ध नृत्य और विशुद्ध संगीत को कलाओं में स्थान मिला है वहाँ विशुद्ध अभिनय कला में कभी भी सम्मिलित नहीं किया गया। नाटक में अभिनय प्रधान है, फिर भी प्राचीन विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति नृत्य और संगीत से मानी है, अभिनय से नहीं। इस मत को प्रतिपादित करने वाले विद्वान् अधिकांश में पाश्चात्य देशों के हैं, और उन्होंने अपना मत यूनान और रूम की नाटक परम्पराओं से बनाया है।

अभिनय मानव की आदि प्रवृत्ति है, इसे समझने के लिए हमें अपने-अपने जीवन को ही देखना पड़ेगा। छोटे-छोटे बच्चों में दूसरों का अभिनय करके मनोरंजन प्राप्त करने की एक प्राकृतिक प्रवृति पाई जाती है। हँसी-मज़ाक करने में दूसरों की नकल करना अभिनय ही तो है। यही नहीं, जाने-अनजाने वयस्क लोग भी दूसरों की नकल करते रहते हैं। यह नकल प्रायः जीवित लोगों की ही की जाती है और इस अभिनय में उन जीवित व्यक्तियों का मज़ाक ही उड़ाया जाता है। सम्भवतः इसी लिए विशुद्ध अभिनय कला का अंग नहीं बन सका क्योंकि जहाँ बहिर्मुखी होने के साथ-साथ नृत्य और संगीत अन्तर्मुखी भी हैं, उनमें

अपने अन्दरवाली प्रेरणा प्रधान है और प्रायः उनका सम्बन्ध दूसरों से असम्बद्ध विशुद्ध अपनी भावना से है, वहाँ अभिनय शुद्ध-रूप से बहिर्मुखी है; वहाँ अपने अन्दरवाली भावना किसी दूसरे से सम्बद्ध होती है।

अभिनय ने कहानी के साथ मिलकर ही कला का रूप धारण किया क्योंकि कहानी के पात्र काल्पनिक होते हैं और इसलिए अभिनेता उन चरित्रों के साथ जिनका वह अभिनय करता है, अपनी निजी भावना के अनुरूप तादात्म्य स्थापित करता है। वैसे नृत्य और संगीत को अभिनय के सहयोग से प्रभावशाली बनाने की प्रवृत्ति आदिकाल से दिखाई देती है। दक्षिण भारत का भरत-नाट्य इस प्रवृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है। सम्भवतः इसी लिए कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति नृत्य से मानी है। पर यहाँ वे विद्वान् इस मनोवैज्ञानिक सत्य की उपेक्षा करने की गलती कर जाते हैं कि अभिनय केवल चरित्रों का एवं उनकी भाव-भंगिमा का होता है, और यह दोनों ही कहानी के अंग हैं, नृत्य तथा संगीत के अंग नहीं हैं।

अभिनय का आदि रूप हमें स्वांगों में दिखता है। इन स्वांगों में अधिकांश मूक अभिनय होता है, और इन स्वांगों की प्रथा आज भी मानव समाज में मौजूद है। पर इन स्वांगों में भी किसी ऐसी प्रचलित कहानी का आधार है जिसे समस्त समाज जानता है। कहानी के किसी एक अंग को आधार बनाकर स्वांग भरे जाते हैं, और यह स्वांग मूक अभिनय के प्रतीक होते हैं। स्वांगों का विकसित रूप 'लीला' या 'तमाशा' कहलाता है। इन लीलाओं और तमाशों में प्रधानता कर्म की गति को मिलती है और इसलिए यह दोनों कला के अधिक निकट आते हैं। इन लीलाओं और तमाशों में स्पष्ट रूप से कोई कहानी कही जाती है। यह कहानी प्रायः कोई प्रचलित कहानी ही होती है और इसलिए लीला या तमाशे मूक भी हो सकते हैं। इन सबों में प्रमुखता अभिनय को ही मिलती है।

अभिनय की यह अवस्था नाटक से पहले की अवस्था है क्योंकि उस समय अभिनीत कहानी साहित्य का अंग नहीं मानी जाती थी। इन स्वाँगों, लीलाओं और तमाशों में केवल कला का आदि रूप है, वह पूर्ण विकसित कला नहीं है।

कहानी, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, मानव की आदि प्रवृत्ति होते हुए भी बहुत बाद में अपने बल पर साहित्य में स्वीकृत हुई है, लेकिन सहायक तत्त्व के रूप में यह कहानी काव्य, नृत्य तथा अन्य कलाओं में

हमेशा से स्वीकृत रही है। इस प्रकार एक बात हमें स्पष्ट होती है, कहानी और अभिनय दोनों ही बौद्धिक हैं जब कि नृत्य और संगीत भावनात्मक हैं। बच्चों में कहानी के प्रति आकर्षण उतना ही स्वाभाविक है जितनी उनमें अभिनय की प्रवृत्ति है। दोनों में ही बुद्धि और कल्पना का सम्मिश्रण है।

भावना की यह दोनों बौद्धिक प्रवृत्तियाँ—अभिनय और कहानी—यह एक दूसरे के पूरक अंग कहे जा सकते हैं, और इन्हीं दोनों के योग से नाटक का जन्म हुआ। और नाटक में बौद्धिक तत्त्व प्रधान होने के कारण उसमें शब्द को उपकरण माना गया, इसलिए नाटक को साहित्य के अन्तर्गत माना गया। लेकिन नाटक की मान्यताओं पर कुछ कहने के पहले नाटक का आदि रूप हमें समझ लेना पड़ेगा।

कला के वर्गीकरण के पहले हम मानव की एक प्रवृत्ति देखते हैं, वह यह कि उस समय मनुष्य में विभिन्न कलाओं के सम्मिश्रण की प्रथा थी। कविता, नृत्य, कहानी, अभिनय—यही नहीं, मूर्तिकला, चित्रकला और स्थापत्य कला का प्रदर्शन साथ साथ होता था। लोग एक स्थान पर एकत्रित होते थे और इन सब कलाओं के मिश्रित प्रदर्शन से रस ग्रहण करते थे। मानव के बौद्धिक विकास के साथ इन कलाओं को एक दूसरे से पृथक करके कलाओं के विभिन्न वर्गीकरण किये गए। पर मानव की आदि प्रवृत्ति उसके बौद्धिक विकास के क्रम में वैसी की वैसी बनी रही, और इन विभिन्न कलाओं के योग से जो एक रूप बनता है, उसका नाम नाटक पड़ गया।

(२)

नाटक के दो भाग स्पष्ट हैं—लिखित और उस लिखित को दृश्य एवं श्रव्य काव्य रूप में प्रस्तुत करने की योजना। दृश्य एवं श्रव्य रूप में प्रस्तुत करने के साधनों में संगीत, नृत्य तथा अभिनय आते हैं। इनके अलावा एक और भी भाग है—रंग-मंच। इस रंग-मंच के निर्माण में चित्रकला, स्थापत्य कला एवं मूर्तिकला का योग दान है।

नाटक को हमारे साहित्यकारों ने दृश्य-काव्य की संज्ञा दी है और जब हम इस 'दृश्य' शब्द की विवेचना करते हैं तब रंग-मंच जिस पर नाटक का अभिनय होता है, महत्त्व का स्थान ले लेता है। रंग-मंच के निर्माण पर नाटक की सफलता बहुत अंश तक निर्भर है क्योंकि अभिनय का उचित भावनात्मक प्रभाव रंग-मंच पर ही निर्भर है। अनेक अंगों में निःशक्त कथा भी अभिनय और रंग-मंच की सजावट से प्रभावशाली हो

जाया करती है। आदि काल में जब नाटक लोक-कला का ही भाग था, रंग-मंच का निर्माण प्रयत्न के साथ किया जाता था। लेकिन लोक-कलाओं में जितनी सक्षमता और सामर्थ्य होती है उतनी ही आदि काल के नाटकों में दिखती है और इसलिए साहित्य के अन्तर्गत जब नाटक स्वीकार किया गया, उस समय उसके विविध-कलात्मक पक्षों की निर्बलता को स्वीकार करके उसके साहित्यिक भाग को परिपुष्ट बनाने का ही प्रयत्न किया गया।

संस्कृत-साहित्य के विकास का जब हम अध्ययन करते हैं तब हमें यह स्पष्ट-रूप से दिखता है कि संस्कृत-साहित्य का प्रमुख-भाग नाटक-साहित्य है। संस्कृत का प्रथम नाटककार भास माना जाता है जो सम्भवतः ईसा से पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दि में हुआ है। भास के बाद अश्वघोष, कालिदास, शूद्रक, हर्षदेव, भवभूति आदि संस्कृत के जितने साहित्यकारों की कृतियाँ हमारे सामने आती हैं उनमें नाटकों की प्रचुरता है। जयदेव के समय से नाटकों की रचना का अभाव संस्कृत-साहित्य में दिखने लगता है।

इन प्राचीन काल के नाटकों में हमें कहानी, कविता, नृत्य, संगीत और अभिनय—इन सबका सामंजस्य मिलता है और सम्भवतः इसी सामंजस्य के कारण नाटकों को संस्कृत-साहित्य में इतना अधिक महत्त्व दिया गया है। साहित्य जन द्वारा आसानी से ग्राह्य हो, इसके लिए नाटक अधिक उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि नाटक में साहित्य की भावना के व्यक्तीकरण को शब्दों की गति के अलावा अन्य कलाओं में निहित गतियों की सहायता मिलती है।

अँग्रेजी में नाटक का पर्यायवाची शब्द ड्रामा है और ड्रामा शब्द में उस गति का जो कौतूहल का सृजन करे भास है। हिन्दी में भी नाटकीय अथवा नाटकीयता शब्दों में भी कर्म की इस गति का भास है। कहानी में कर्म और उसको गति की जो भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, नाटक में वह अत्यधिक प्रभाव के साथ उपस्थित की जाती है। नाटक में साहित्यिक वर्णनों के प्रसार के लिए कोई स्थान नहीं है और इसलिए नाटक का कथानक सुगठित होता है। नाटक का साहित्यिक भाग कथोपकथन होता है, और इस कथोपकथन के ढाँचे में ही कहानी बाँधी जाती है।

जो साहित्यकार नाटक लिखता है उसे अन्य कलाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान तो होना ही चाहिये। नाटक वाली कहानी की सार्थकता उसके अभिनय में ही है और इसलिए नाटक की कहानी में कल्पना की

गति अधिक मुखर नहीं हो पाती। लिखित कहानी या उपन्यास में लेखक और पाठक के बीच में केवल शब्द होते हैं, और शब्दों द्वारा आदान-प्रदान शुद्ध-रूप से बौद्धिक होता है। नाटक में यह आदान-प्रदान आँख और कान द्वारा किया जाता है, और इसलिए कल्पना का क्षेत्र अति-सीमित हो जाता है।

रंग-मंच पर अभिनय से पृथक नाटक का अस्तित्व विशुद्ध साहित्यिक रूप में कुछ संदिग्ध-सा है। नाटक के साथ अभिनय की व्यवस्था अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई होती है। इतना मान लेने के बाद फिर यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या पठित-साहित्य में नाटक का स्थान कमजोर है ? इंगलैण्ड का सर्वश्रेष्ठ शेक्सपियर प्रमुखतः नाटककार है, और उसके नाटकों में जो कवित्व है वह केवल अभिनय का ही नहीं है, वह पठित-साहित्य में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल को विश्व में जो मान्यता मिली है वह पठित-काव्य के कारण, इसलिए नाटक के विशुद्ध साहित्यिक तत्त्व की व्याख्या कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, नाटक में वर्णन के विस्तार और प्रसार की सम्भावना नहीं है, नाटक में कल्पना का क्षेत्र अति-सीमित होने के कारण कल्पना बहक नहीं पाती। अधिकांश साहित्य अनपेक्षित विस्तार और प्रसार से दोषपूर्ण हो जाया करता है। नाटक के शिल्प में साहित्यकार एक प्रकार की मर्यादा और सीमा में बँध कर आगे बढ़ता है। इससे अनावश्यक प्रसार और विस्तार का दोष उसमें नहीं आने पाता। जिस चीज़ का अभिनय न किया जा सके या जिन चीज़ों का समावेश अभिनय में न हो सकें, वह नाटक में आ ही नहीं सकतीं। अभिनय की सीमा से परिमार्जित साहित्य निश्चय रूप से प्रभावशाली होगा।

जिसे हम अँग्रेजी में डाइरेक्ट एक्सप्रेशन (Direct Expression) कहते हैं और हिन्दी में हम स्पष्ट उक्ति कह सकते हैं, नाटक में वह निखरता है, अन्य पठित-साहित्य में वह दोष युक्त माना जाता है। पाठक पर इस स्पष्ट उक्ति का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है क्योंकि उसमें प्रसाद गुण होता है, और मैं प्रसाद गुण को साहित्य का प्रमुख गुण हमेशा से मानता रहा हूँ। नाटक में नाटकीयता होने के कारण तीव्र अनुभूति के गुण प्रमुख होते हैं और यही कारण है कि कहानी नाटक के शिल्प में बँधकर बड़ी आसानी से दूसरों में संवेदना की सृष्टि कर सकती है।

आधुनिक काल में इब्सन, बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी आदि साहित्यकारों ने नाटक के शिल्प के माध्यम से ही अपना साहित्य प्रस्तुत किया है।

भारतवर्ष में रंग-मंच के अभाव के कारण आधुनिक युग में नाटकों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। जो कुछ थोड़े-से नाटक कुछ विशिष्ट साहित्यकारों ने लिखे, वह अभिनय की दृष्टि से नहीं लिखे गए—उनका केवल पठित महत्त्व है। वैसे उन नाटकों का अभिनय भी हुआ है, लेकिन उनकी लोकप्रियता रंग-मंच के नाटकों के रूप में न होकर पठित-साहित्य के रूप में ही है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जयशंकर प्रसाद आदि अनेक महाकवियों के नाटकों से इसी निर्णय पर पहुँचा जाता है।

(३)

नाटक को हम साहित्य का यान्त्रिक उपकरण कह सकते हैं। नाटक का प्रमुख तत्त्व कहानी है और इसलिए कहानी को हम नाटक का आधार कह सकते हैं। रंग-मंच पर जो नाटक होता है उसमें पाठक कहानी को पढ़ कर नहीं ग्रहण करता, वह उसे सुन कर और उसे देख कर ग्रहण करता है। नाटक में आधार-रूप से शब्द माध्यम होते हुए भी कलाओं के अन्य उपकरण मौजूद रहते हैं। नृत्य, संगीत, चित्र, स्थापत्य, मूर्ति, इन सब कलाओं का समावेश होता है।

लेकिन इन सब कलाओं की अपनी एक निजी सीमा है। उस सीमा को यन्त्रों की सहायता से दूर किया जा सकता है, और इसलिए वैज्ञानिक विकास के साथ आज के यान्त्रिक युग में नाटक का रूप तथा उसकी मान्यताएँ बदल गयो हैं। हरेक कला के साथ उसका एक यान्त्रिक पहलू भी विकसित होता जा रहा है। नाटक के क्षेत्र में तो बहुत बड़े परिवर्तन हो चुके हैं।

जहाँ उपन्यास और कहानी में चरित्रों एवं घटनाओं को हम अपनी कल्पना द्वारा ग्रहण करते हैं वहाँ नाटक में हम यह सब देख कर और सुन कर ग्रहण करते हैं। कर्मों के अन्दर क्रिया-प्रतिक्रिया वाली गति के बल पर नाटक चलता है, और यह गति शुद्ध रूप से साहित्य की गति मानी जाती है, अन्य कलाओं की नहीं; इसलिए नाटक साहित्य का ही भाग है। पर इस कर्म की क्रिया और प्रतिक्रिया का रूप जो प्रस्तुत किया जाता है, वह स्वयम् में सीमित हो जाता है और कहीं-कहीं विकृत भी हो जाता है जब कि नाटक को प्रस्तुत करने वाले में कल्पना का अभाव हो, क्योंकि नाटक को प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति स्वयम् लेखक नहीं होता।

लेकिन मैं इस स्थान पर यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि नाटक-लेखक को भी रंग-मंच का ज्ञान होना चाहिये। जिस नाटक-लेखक को रंग-मंच का ज्ञान नहीं है, वह सफल नाटककार नहीं हो सकता।

नाटक में समस्त कहानी कथोपकथन में होती है। कहानी का जो वर्णन भाग होता है, वह रंग-मंच पर दिखलाया जाता है। ऐसी हालत में बहुत से ऐसे वर्णन हो सकते हैं जो रंग-मंच पर नहीं दिखलाए जा सकते। इस प्रकार के वर्णनों को नाटक में नहीं सम्मिलित किया जा सकता। उपन्यास में मिलने वाली कहानी की सम्पूर्णता और कहानी का प्रसार नाटक में नहीं मिल सकते; नाटक का कहानी पक्ष अपेक्षाकृत निर्बल होता है। इस निर्बल कहानी पक्ष को अन्य कलाओं के सहयोग से सँवारा जाता है। इसलिए जिस लेखक में अन्य कलाओं का ज्ञान नहीं है वह सफल नाटककार नहीं हो सकता।

कला के आरम्भिक विकास की अवस्था में हरेक कलाकार में हरेक कला का ज्ञान होता था, क्योंकि विशिष्ट वर्गीकरण के पहले लोक-कलाओं में प्राय: समस्त कलाएँ सन्निहित पाई जाती थीं जिसका बाद में नाटक के नाम से वर्गीकरण किया गया—उन स्वांगों और तमाशों में ही कलाओं के सामूहिक रूप का प्रदर्शन किया जाता था। जिस समय मैं नाटक को कला का यान्त्रिक उपकरण कहता हूँ उस समय मेरे सामने यह सत्य अवश्य रहता है कि नाटक व्यक्तिगत कला नहीं है, वह दल-गत-अनुष्ठान (Team Work) की कला है।

नाटक आज के दिन भी उस (Team Work) दल-गत अनुष्ठान में जकड़ा हुआ है, कहानीकला जिसका प्रमुख आधार है। प्राय: ऐसा भी होता है कि कमज़ोर कहानी के आधार पर लिखा हुआ नाटक रंग-मंच पर बहुत सफल उतरे। और वैज्ञानिक विकास के साथ नाटक में कहानी की महत्ता कम होती जा रही है। पचास वर्ष पहले रंग-मंच पर जो कुछ नहीं दिखलाया जा सकता है, आज वह सब दिखलाया जा सकता है। प्रकाश की व्यवस्था, दृश्यों की व्यवस्था विज्ञान की सहायता से यह सब इतने बढ़ गए हैं कि नाटक की वह सीमा जो नाटक में बहुत कुछ कहने से रोकती थी, कम होती जा रही है।

यान्त्रिक उपकरणों के कारण नाटक का एक नया रूप ही इस युग में प्रकट हुआ है जिसे हम चलचित्र या सिनेमा कहते हैं। चलचित्र में सभी कुछ दिखाया जा सकता है, और कहानी अथवा उपन्यास की व्यापकता नाटक के इस नवीन रूप चलचित्र में सम्मिलित हो सकती है। चलचित्रों

से परम्परागत नाटकों के विकास को एक धक्का-सा लगा और आज की दुनिया में नाटकों का स्थान चलचित्रों ने ले लिया है।

चलचित्रों में हम अभिनेताओं को नहीं देखते, रंग-मंच को नहीं देखते—केवल छाया के रूप में सब कुछ हमारे सामने आता रहता है। कलात्मक प्रवृत्ति वालों को यह चलचित्र स्वाभाविक-रूप से निष्प्राण-से दिखते हैं। और इसलिए विदेशों में जहाँ वैज्ञानिक कारण इस प्रचुरता के साथ उपलब्ध हैं कि उनका प्रयोग नाटकों में किया जा सके, नाटक की परम्परा क़ायम है। पर उन क्षेत्रों में जहाँ वैज्ञानिक उपकरणों का अभाव है, नाटक ह्रासोन्मुख है।

उदाहरण के लिए हिन्दी के क्षेत्रों में कहीं भी घूमने वाला (Revolving) रंग-मंच नहीं है जिस पर नाटक खेला जा सके। प्राचीन ढंग से खेले जाने वाले नाटकों को आज के वैज्ञानिक युग का और वैज्ञानिक चेतना वाला मनुष्य स्वीकार नहीं कर सकता। और इसलिए हिन्दी क्षेत्रों में नाटकों का कोई क्षेत्र नहीं है। शौकिया नाटक खेलने वालों की टोलियाँ जब-तब नाटक खेल लिया करती हैं लेकिन साधनों के अभाव के कारण उन नाटकों के बड़े नीरस और भद्दे प्रदर्शन होते हैं। और उन प्रदर्शनों का परिणाम यह होता है कि नाटकों का मूल्य जनता की नज़र में गिरता चला जा रहा है।

हिन्दी में आज के दिन नाटक शुद्ध रूप से पठित-साहित्य का स्थान लिए हुए है। लेकिन लिखित नाटकों में तो केवल कथोपकथन होता है, कवित्वमय और विस्तृत वर्णनों का उनमें अभाव होता है। इसलिए पाठ्य-सामग्री के रूप में नाटकों की माँग नहीं के बराबर है।

अकसर हिन्दी के साहित्यकारों से यह शिकायत की जाती है कि वह नाटक की उपेक्षा करते हैं। मौज में आकर कुछ साहित्यकारों ने दो-चार एकांकी नाटक भले ही लिख दिये हों, उन्होंने सम्पूर्ण नाटक नहीं लिखे हैं। जिस चीज़ की बिक्री नहीं है उसका उत्पादन किस प्रकार सम्भव है? एकांकी नाटकों का स्थान कहानियों के समकक्ष आता है। कहानी स्वयम् में उपन्यास की अपेक्षा सीमित है, इसलिए एकांकी नाटक कहीं-कहीं कहानी की अपेक्षा अधिक सफल पाठ्य-सामग्री के रूप में आ जाते हैं। लेकिन इस प्रकार एकांकियों को लिखने में जो परिश्रम करना पड़ता है, वह कहानी की अपेक्षा बहुत अधिक होता है।

मेरा कुछ ऐसा मत है कि जब तक हिन्दी में रंग-मंच की स्थापना नहीं होती तब तक हिन्दी साहित्य में नाटक उपेक्षित पड़ा रहेगा। योरोप

में बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी आदि जो नाटककार हो गए हैं उसका कारण है कि वहाँ वैज्ञानिक विकास ने नाटकों को तत्काल प्रभावित किया और वहाँ का रंग-मंच निरन्तर विकासोन्मुख रहा है।

(४)

नाटक को हमारे आचार्यों ने दृश्यकाव्य की संज्ञा दी है, लेकिन वैज्ञानिक विकास के युग में रेडियो के आविष्कार के बाद नाटक का दृश्य-रूप कहीं-कहीं गायब हो गया और श्रव्य-रूप भर रह गया। रेडियो नाटकों की रचना केवल श्रव्य उपकरणों को ध्यान में रखकर की जाती है। नाटक का यह श्रव्य-रूप साहित्य के अधिक निकट है।

रेडियो नाटक कथोपकथन एवं संगीत पर ही चलता है। कथा-वस्तु की श्रृंखला वहाँ वाचक-वाचिका के शब्दों में जोड़ी जा सकती है, यद्यपि बार-बार वाचक और वाचिका को लाना नाटककार की अक्षमता का बोध कराता है।

रेडियो नाटक में दो कलाओं का सम्मिश्रण तो बड़ी आसानी से हो सकता है—साहित्य और संगीत। साहित्य के अन्तर्गत भी कहानी और कविता रेडियो नाटकों पर एक साथ आ सकते हैं।

मेरा कुछ ऐसा अनुभव है कि रेडियो नाटकों में यदि कविता और संगीत का समावेश हो सके तो वह बहुत सफल नाटक होंगे। कुछ इस प्रकार के जो प्रयोग रेडियो नाटकों में हुए हैं, वह काफी सफल माने जाते हैं, लेकिन यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि इन नाटकों का कहानी अंग इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना उनका कविता का अंग होता है। जिसको हम शुद्ध नाटक का शिल्प कहते हैं, रेडियो नाटक को नाटक कहते हुए भी उस शिल्प का उसमें अभाव होना अनिवार्य है।

अभी कुछ दिन पहले रंग-मंच के नाटकों के रेडियो पर प्रसार की व्यवस्था की गयी थी और यह प्रयोग सफल नहीं हो सका। रंग-मंच के नाटक के शिल्प में और रेडियो नाटक के शिल्प में बहुत अन्तर है। रेडियो नाटक में जो भी अभिनय हो सकता है वह शब्दों द्वारा हो सकता है जो कान से सुने जायँ। कथोपकथन के शब्दों में भावनात्मक उतार-चढ़ाव दे सकना और उस उतार-चढ़ाव को ग्रहण करना यह सब कुछ संदिग्ध-सा रहा करता है। जो नाटक रंग-मंच के लिए लिखा गया है वह रेडियो पर सफलतापूर्वक प्रसारित ही नहीं किया जा सकता, जहाँ तक उसका कलात्मक पक्ष है।

रेडियो नाटक का अपना निजी शिल्प है जो विकास के क्रम में है।

ऐसी कहानी जो सम्पूर्ण रूप से कथोपकथन में बँधी हुई हो, रेडियो नाटक में सफल होती है। इस कथोपकथन का काव्यमय होना या प्रभावशाली होना ही अनिवार्य है। लेकिन रेडियो नाटकों की एक सीमा भी होती है, यदि अधिक पात्र हुए तो उसमें व्याघात पहुँचा है। दो-चार पात्रों की आवाज़ों से तो हम उन्हें पहचान सकते हैं, पर जहाँ पात्रों की संख्या अधिक हुई, श्रोता भटकने लगता है।

रेडियो नाटकों की पुस्तकों के रूप में बिक्री बहुत कम होती है। सुनने पर जो कथोपकथन अच्छा लगता है उसमें अधिकांश में सस्ते किस्म की भावुकता होती है, पढ़ने पर वह कथोपकथन प्रभावहीन ही नहीं, कभी-कभी हास्यास्पद भी लगने लगता है। फिल्मों में जो कथोपकथन (Dialogues) आते हैं, उनमें भी यही दोष है।

व्यावसायिक कला होने के कारण रेडियो के नाटकों की माँग है और यह रेडियो नाटक प्रचुरता के साथ लिखे भी जा रहे हैं। यह सम्भव था कि लगातार विकास के साथ रेडियो नाटक का एक निश्चित और सुस्पष्ट रूप निखरता, लेकिन इस बीच विज्ञान ने फिर अपना अगला कदम उठा दिया और टेलीविज़न आ गया।

टेलीविज़न में नाटक के दृश्य-काव्य वाले सभी अवयव मौजूद हैं और इसलिए रेडियो-नाटक के विकास में जो प्रगति आ रही थी वह शिथिल पड़ गयी। काव्यमय लम्बे-लम्बे कथोपकथन जिनमें कर्म (Action) का अभाव हो, रेडियो पर तो सरलतापूर्वक प्रस्तुत किये जा सकते हैं; वह टेलीवज़न में नहीं आ सकते।

भारतवर्ष में तो टेलीविज़न अभी नहीं के बराबर आया है और उसे यहाँ पूर्ण रूप से स्थापित होने में अभी समय लगेगा। लेकिन कला का जो नवीन रूप प्रकट हो गया है उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है। अगला युग टेलीविज़न का युग कहा जा सकता है और दुनिया के अन्य भागों में टेलीविज़न की फिल्मों से प्रतियोगिता होने लगी है। टेलीविज़न में रंग-मंच के नाटकों की सीमा अधिक से अधिक कम की जा सकती हैं।

टेलीविजन पर प्रस्तुत किये जाने वाले नाटकों का शिल्प निकट भविष्य में विकसित होगा और व्यावसायिक साहित्यकारों को इस दिशा में सचेत रहना चाहिये। वैसे फिल्मों में जिस कथा-शिल्प का प्रयोग किया जा रहा है, उससे मिलता-जुलता शिल्प ही टेलीविज़न में आएगा, लेकिन टेलीविज़न के शिल्प में उस सस्तेपन की सम्भावना कम रहेगी जो फिल्मों का अनिवार्य भाग बन चुकी है क्योंकि टेलीविज़न आभिजात्य वर्ग की

रुचि और भूख को पूरा करने के लिए है, जिसे हम फिल्मों में (बाक्स आफिस) टिकटों की बिक्री कहते हैं उसका प्रश्न टेलीविज़न में नहीं उठता।

और इतना कह देने के बाद मैं समझता हूँ कि मैंने यह स्पष्ट कर दिया है कि नाटक हमारे साहित्य का यान्त्रिक उपकरण है। सर्व-साधारण में नाटकों की महत्ता दिनों-दिन बढ़ती जायगी, और इन नाटकों के विविध प्रकार भी विकसित होते जाएँगे। पर मेरा ऐसा निश्चित मत है कि नाटक को आगे चलकर साहित्य में वह स्थान नहीं मिल सकेगा जो प्राचीनकाल में मिला है क्योंकि भविष्य के नाटकों में यन्त्रों द्वारा उत्पन्न प्रभाव अधिक महत्त्व के समझे जाएँगे, साहित्यिक प्रभाव को केवल गौण-स्थान समझा जायगा। यही नहीं, इन यान्त्रिक आडम्बरों में जकड़ जाने के बाद नाटक सम्पन्न और समर्थ व्यक्तियों के हाथ में आ जायगा। स्रष्टा कलाकार नाटकों का संचालक नहीं हो सकेगा, और ऐसी हालत में स्रष्टा साहित्यकारों की इन फिल्मों अथवा टेलीविज़न के प्रति उदासीनता बढ़ती ही जायगी।

(५)

हिन्दी में रंग-मंच के अभाव के कारण नाटकों की दयनीय दशा है, यह सत्य है। पर नाटक समय की माँग के कारण उपेक्षित नहीं रह सकेगा। नाटक की कला स्वयं में महत्त्वपूर्ण कला है और अगर 'नाटक' शब्द की विवेचना मैं नहीं करता तो मेरी बात अधूरी रह जायगी।

'नाटक' शब्द में जहाँ तक संस्कृत साहित्य का प्रश्न है, अभिनय की व्यंजना है। अंग्रेजी में नाटक का पर्यायवाची शब्द ड्रामा है। ड्रामा शब्द से अंग्रेजों में जो अभिव्यंजना है वह यह कि वहाँ कर्मों की क्रिया-प्रतिक्रिया का ऐसा एकीकरण जो मनुष्य में उत्सुकता जागृत कर दे। कर्म की प्रखरता, तीव्रता, गति—इन सबों की व्यंजना ड्रामा शब्द में मिलती है।

साधारण कहानियों और उपन्यासों में ड्रामा मिलता है जहाँ वह कर्म प्रधान होते हैं और उनके पाठकों में उत्सुकता और कौतूहल अनायास ही जाग उठते हैं। कथा-वस्तु की इस प्रकार की सजावट कि मनुष्य की उत्सुकता लगातार बढ़ती जाय, उस कहानी अथवा उपन्यास का नाटकीय तत्त्व है।

इस बात को ध्यान में रखकर मैं यह कह सकता हूँ कि जिन उपन्यासकारों एवं कहानीकारों की कथाओं में नाटकीय प्रवृत्ति मिलती है वे सफल नाटककार बन सकते हैं। हाँ, उन्हें यह सुविधा अवश्य मिलनी चाहिये कि रंग-मंच और यान्त्रिक उपकरण उनके अधीन हों।

यह कहना कठिन है कि कब यह अवस्था आएगी, पर मेरा ऐसा विश्वास है कि नाटकों की परम्परा लेखकों के हाथ में आ कर ही सम्हल सकती है। आज की बदलती हुई राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मान्यताओं को ध्यान में रख कर किसी भी प्रकार की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

लेकिन यह भी सत्य है कि कहानी तत्त्व मनुष्य के मनोरंजन की आदि प्रवृत्ति है, और यह कहानी नाटकों के द्वारा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की जा सकती है।